उत्तरदायी कौन ?

युवाचार्य महाप्रज्ञ

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

संपादक
मुनि दुलहराज

प्रकाशन सहयोग : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित युवाचार्य महाप्रज्ञ साहित्य प्रकाशन कोश।

द्वितीय संस्करण : नवम्बर, १९८८

मूल्य : तेरह रुपये/प्रकाशक : तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती लाडनूं, नागौर (राजस्थान) / मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६।

UTTARDAYI KAUN?
Yuvacharya Mahaprajna
Rs. 13.00

प्रस्तुति

हमारी सबसे बड़ी समस्या है अपने आपको न देखना। समस्या का सबसे बड़ा समाधान है अपने आप को देखना। आत्म-दर्शन और आत्म-निरीक्षण ये दो उपाय है। इनके द्वारा सुख, शान्ति और हल्केपन का अनुभव होता है। मनुष्य की दृष्टि वहिर्मुखी होती है। वह बाहर को देखती है, इसीलिए हमारी दुनिया मे आरोप-प्रत्यारोप का सिलसिला चलता है। व्यक्ति अपने दायित्व का अनुभव कम करता है। अच्छे कार्य का दायित्व तो अपने पर ओढ़ लेता है, पर बुरे का दायित्व सदा दूसरों पर लाद देता है। इस प्रक्रिया से समस्या सुलझती नही, वह और अधिक उलझ जाती है।

अध्यात्म के साधको ने सत्य की खोज की, वास्तविकता का पता लगाया। उन्होने घटना के प्रति उत्तरदायित्व का विश्लेषण किया। प्रस्तुत कृति मे उन उत्तरदायी घटको की एक सक्षिप्त-सी रूपरेखा है। इसका अध्ययन अपने जीवन की गहरी अनुभूतियो का अध्ययन होगा।

इस के सपादन मे मुनि दुलहराजजी का अध्यवसाय व श्रम परिलक्षित हो रहा है।

आचार्यश्री की सन्निधि व प्रेरणा से प्राप्त ज्योति दीप से पथ आलोकित है। पूरी आस्था है कि ज्योति की रश्मियां चारो ओर विकीर्ण होती रहेगी।

११-११-८४
जोधपुर

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

१. हम स्वतंत्र या परतंत्र	१
२. उत्तरदायी कौन ?	१०
३. अतीत से बंधा वर्तमान	१९
४. अतीत से मुक्त वर्तमान	२५
५. प्रतिक्रमण	३४
६. वर्तमान की पकड़	४१
७. परिवर्त्तन का सूत्र	४७
८. महान् आश्चर्य	५५
९. समुद्र मे नाव	६२
१०. घोड़ा और लगाम	६९
११. अनुराग और विराग	७८
१२. सृजनात्मक शक्ति	८४
१३. परिवर्तन मस्तिष्क का	९२
१४. दिव्य चक्षु	९९
१५. दिव्य शक्ति	१०७
१६. दिव्य आनन्द	११३
१७. अध्यात्म और विज्ञान	१२१

१

हम स्वतंत्र या परतंत्र ?

स्वतन्त्रता और परतन्त्रता की चर्चा नई नही है। वह सदा चलती रही है, आज भी हम करते है। परतन्त्रता के कारणो पर विचार करने से लगता है कि परतन्त्रता का एक मुख्य कारण है—वातावरण, परिस्थिति। आदमी वातावरण से इतना प्रभावित होता है कि वह अनचाहा कार्य भी कर लेता है। वह नही चाहता कि अमुक कार्य करूं। परन्तु परिस्थिति की परतत्रता या वातावरण की वाध्यता उससे वह कार्य करा डालती है। ऐसा एक वार नही हजारो वार होता है। एक व्यक्ति के जीवन मे नही हजारो व्यक्तियो के जीवन मे होता है। आदमी अपने उत्तरदायित्व को वहुत हल्का कर देता है इस उत्तर से कि जव परिस्थिति ही ऐसी थी तो मैं कैसे वच सकता था ? छोटे क्षेत्रो की वात छोड दें, वड़े-वड़े क्षेत्रो मे भी यही चर्चा है। भयकर अस्त्रो का अन्धाधुध निर्माण हो रहा है। निर्माताओ से पूछा जाए कि यह निर्माण क्यो हो रहा है तो उत्तर मिलेगा कि इसका निर्माण ध्वंस के लिए नही हो रहा किन्तु परिस्थिति की वाध्यता से किया जा रहा है। यदि हम इनका निर्माण न करे तो दूसरे राष्ट्र युद्ध में उतर जाएंगे। अस्त्रो का निर्माण शक्ति संतुलन के लिए हो रहा है। कितना अच्छा तर्क है और उसमें परिस्थिति की वाध्यता है।

वातावरण दो प्रकार का होता है—वाहर का वातावरण और भीतर का वातावरण। मनोवैज्ञानिको ने इस विभाजन को स्वीकारा है। वाह्य वातावरण के कुछ उद्दीपक होते हैं। उनके कारण वाह्य वातावरण वैसा वन जाता है। इसी के आधार पर आदमी के व्यवहार में परिवर्तन आता है। आदमी का व्यवहार आन्तरिक वातावरण मे परिवर्तन करता है, नाड़ी-संस्थान मे परिवर्तन करता है। नाड़ी-सस्थान मे परिवर्तन होता है तो आन्तरिक व्यवहार मे परिवर्तन होता है। एक चक्र चलता है उद्दीपकों से लेकर आन्तरिक वातावरण तक।

काव्यशास्त्र मे उद्दीपको की वहुत चर्चा है। वे स्थायीभाव, सात्विक-भाव और संचारीभाव के नाम से पहचाने जाते है।

बाहर के उद्दीपक हमारे आन्तरिक वातावरण को उद्दीप्त कर देते हैं। एक आदमी बिलकुल शात बैठा है। किसी ने आकर कहा—अरे बेवकूफ !

यहा क्यो बैठे हो ? बस, शान्ति भंग हो जाती है। जो इतने समय तक शात लग रहा था, अब वह ज्वालामुखी बन गया। यह ज्वाला कहा से आई ? आग कहा से आई ? एक शब्द ने, अप्रिय वचन ने शीतलप्रसाद को ज्वाला-प्रसाद बना दिया। एक ही शब्द से उसकी शीतलता समाप्त हो गई। भीतर क्रोध तो था, पर उद्दीपक के अभाव मे वह प्रगट नही हो रहा था। उद्दीपन मिला और वह प्रगट हो गया। सारे आवेग सदा प्रगट नही रहते। यदि वे प्रगट रहे तो आदमी जी नही सकता। आवेगो मे वह कैसे जी सकता है ? आवेग शात हो तभी आदमी शाति से जी सकता है। आवेगो के अस्तित्व मे जीवन दूभर बन जाता है। जब उद्दीपक आते है तब सारा वातावरण गर्म हो जाता है, ज्वालामुखी फूट पडती है। व्यवहार बदल जाता है। आकृति बदल जाती है। मुद्रा बदल जाती है। शांत अवस्था की आकृति और मुद्रा भिन्न होती है। जैसे ही क्रोध आता है, आखे लाल हो जाती है, भृकुटि तन जाती है, चेहरा तमतमा जाता है और समूचा शरीर काप उठता है। प्रकृति के साथ-साथ आकृति बदल जाती है। आकृति बदलती है तो प्रकृति बदल जाती है और प्रकृति बदलती है तो आकृति बदल जाती है। दोनो बदल जाते है। यह कैसे होता है ? उद्दीपन के साथ वातावरण बदलता है और वाता-वरण के साथ व्यवहार बदलता है। बाह्य व्यवहार बदलता है तो आन्तरिक व्यवहार भी बदल जाता है। गुस्सा आया। आदमी गाली बकने लगा। आगे बढा तो हाथ उठ गए। मारने दौडा। यह परिवर्तन क्यो आया व्यवहार मे ! मनोवैज्ञानिको ने इस पर प्रचुर मीमांसा की है कि मनुष्य के व्यवहार और आचरण का परिवर्तन होता है बाह्य वातावरण के द्वारा। यह एक तथ्य है बाह्य वातावरण। यह मनुष्य के व्यवहार और आचरण को बदल देता है। हम इस तथ्य की उपेक्षा नही कर सकते।

एक अच्छे घराने का व्यक्ति था। उसे कोई ऐसे वातावरण का सयोग मिला कि वह शराब पीने लग गया। धीरे-धीरे शराब पीने की आदत बन गई। वह प्रतिदिन शराब के नशे मे धुत रहता। जब व्यसन आता है तब आदमी मे दूसरो को कहने की क्षमता कम हो जाती है। निर्लज्जता होती है तो वह कह देता है, अन्यथा कहने मे सकोच करता है। उस व्यक्ति का लडका सिगरेट पीने लगा। उसका पोता बीडी पीने लग गया। एक दिन दादा ने अपने पोते को बुलाकर कहा—'बेटे ! बीडी पीना अच्छा नही है, बुरी बात है। व्यसन है। अभी इसकी आदत डाल दोगे तो आगे दुःख भोगना पडेगा। इस व्यसन से स्वास्थ्य भी बिगडता है।' पोता बच्चा ही था। उसने सुना। दो क्षण मौन रहा। फिर वह बोला—'दादा ! शराब पीना ज्यादा बुरा है या बीडी पीना ?' यह सुनकर दादा अवाक् रह गया। बच्चे को क्या उत्तर दे।' एक शब्द ने इतना असर किया कि उसकी शराब छूट गई।

हम शब्द से, रूप से, गंध से, रस से और स्पर्श से प्रभावित होते है। वातावरण का सर्जन करने वाले जितने घटक तत्त्व है उन सबसे हम प्रभावित होते है। सारी घटनाएं हमे प्रभावित करती है। लड़ाई हमे प्रभावित करती है। मनुष्य का व्यवहरण उसकी स्वतंत्र इच्छा और प्रेरणा से सचालित नही है। उस पर वातावरण का गहरा असर होता है, परिस्थिति का असर होता है। ऐसी बहुत कम घटनाए होगी, ऐसे कम आदमी होगे, जिन पर वातावरण या परिस्थिति का प्रभाव न पड़ता हो, जो इन दोनो के प्रभावो से मुक्त हों और इनसे अलग हटकर अपना काम करते हो। साधक के लिए भी यह निर्देश-सूत्र है कि जब तक साधना परिपक्व न हो जाए तब तक साधक को वातावरण से बचना चाहिए, परिस्थिति से बचना चाहिए।

एक शिविरार्थी मेरे पास आकर बोला—स्त्री और पुरुष मे इतना भेद क्यो किया जाए ? स्त्रियो को अलग और पुरुषो को अलग क्यो रखा जाए ? इससे तो "मै पुरुष हू"—यह धारणा पुष्ट होगी और "मै स्त्री हू" यह धारणा भी पुष्ट होगी। साधना है इस भेद को मिटाने के लिए। तो फिर हम उल्टे क्यो चल रहे हे ? यह रेखा क्यो बनाई गई कि यहा स्त्रिया बैठेगी और वहा पुरुष बैठेगे। कोई कही बैठे, कही रहे, साथ रहे, न रहे, क्या फर्क पडता हे ? साधना करनी हे तो सबको साथ-साथ रहना चाहिए।"

मैंने कहा—यह आदर्श की बात तो अच्छी हे और जो साधना मे आगे तक पहुंच चुका है उनके लिए ठीक बात है। साधना के चरमबिन्दु पर पहुच जाने के बाद न कोई पुरुष होता है और न कोई स्त्री। कर्मसिद्धात मे दो शब्द व्यवहृत हे—वेदक और अवेदक। वेद तीन है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद। जहा ये तीनो समाप्त हो जाते है, इनकी अनुभूति समाप्त हो जाती है, तब अवेद अवस्था प्राप्त होती है। जब वेद पूरा समाप्त हो जाता है, उसका अनुभव नामशेष हो जाता है तब पुरुष पुरुष नही रहता और स्त्री स्त्री नही रहती। वहा केवल प्राणी रहता हे, प्राण रहता है, चेतना रहती है। वहा पुरुषत्व और स्त्रीत्व समाप्त हो जाते हे। इस स्थिति मे कोई कठिनाई नही होती।

महाराष्ट्र के एक प्रसिद्ध संत अपनी बहिन से साक्षात्कार करने के लिए गए। बहिन उनसे भी अधिक पहुची हुई साधिका थी। संत तो संन्यासी बने ही थे। वे बहिन के आश्रम मे पहुचे। बहन उस समय निर्वस्त्र होकर स्नान कर रही थी। संत ने देखा और मुड़ गए। बाहर आकर बैठे तो [illegible]। जब बहिन स्नान से निवृत्त हो गई, तब भीतर गए और उनसे मिले। बहिन बोली—एक बार तुम भीतर आए थे, फिर बिना मिले बाहर क्यो चले गए ? संत ने कहा—'आया तो था, पर तुम निर्वस्त्र स्नान कर रही थी, इसलिए तत्काल बाहर चला गया। साधिका बहिन बोली [illegible] तुम्हारे

मन में यह भेद बना हुआ है कि यह पुरुष है, यह स्त्री है । तुम क्या साधना करोगे ?'

यह उच्च अवस्था की बात हो सकती है । पर आज साधु बना या साधक बना और आज ही हम उस आदर्श की कल्पना करे तो उचित नही होगा । अभी पुरुषो मे पुरुपत्व भी जागृत है और स्त्रियो में स्त्रीत्व भी जागृत है । स्थिति तो वैसी की वैसी है । मंजिल दूर है । वहां पहुंच कर इस भेद को मिटाया जा सकता है । जब तक भीतर मे आन्तरिक वातावरण विद्यमान है, बाहरी वातावरण और बाहरी उद्दीपन विद्यमान है तब तक उस उच्च स्थिति की कल्पना नही की जा सकती । वह व्यवहार्य भी नही बन सकती । तब तक विधि-विधान, मर्यादाए और रेखाएं बहुत जरूरी है । यदि रेखाएं न हो तो बौद्धसंघ की-सी स्थिति बन सकती है । बुद्ध ने भिक्षुणियो का सघ बनाया । सघ बनाया पर व्यवस्था नही दी । इसका परिणाम यह आया कि बुद्ध का संघ भ्रष्ट होता चला गया । व्यवस्था टूट गई । दूसरी ओर भगवान् महावीर ने साध्वियो को दीक्षा दी । साध्वी-संघ बना, पर व्यवस्थाए इतनी अच्छी दी कि आज भी भिक्षुओ और भिक्षुणियों का यह जैनसंघ निर्दोषरूप से चल रहा है ।

हम इस बात को न भूलें कि हमारा व्यवहार जो उद्दीपक है, उसका पूरा विवेक बहुत जरूरी है, क्योंकि हमारी चेतना इतनी स्वतन्त्र नही बन गई है कि वह उद्दीपको से प्रभावित न हो । जब तक उद्दीपको का प्रभाव पड़ता रहता है तब तक व्यवहार भिन्न प्रकार से ही करना होगा । इसीलिए अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन सबके लिए विधि-विधान किए गए । अहिसा की भी विधि है । जो वीतराग अवस्था तक पहुच गया है, उसके लिए कोई मर्यादा नही है । वह बंधा हुआ नही होता, अतः उसके लिए कोई विधि नही होती । आचारांग का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त है—'कुशले पुण णो बद्धे णो मुक्के'—जो कुशल—वीतराग हो जाता है, वह किसी बधन से वधा हुआ नही होता । वह न बंधा हुआ होता है और न मुक्त । बंधन और मोक्ष—दोनो उसके लिए समाप्त हो जाते है, क्योकि ये दोनों सापेक्ष शब्द है । जो वीतराग स्थिति मे पहुच जाता है, उसके लिए इन सापेक्ष शब्दो का कोई उपयोग नही रहता । वह दोनों—वंधन और मुक्ति से परे हो जाता है । परन्तु जव तक व्यक्ति 'कुशल' नही हो जाता, तव तक वह वधा हुआ रहता है । वह स्व-अनुशासन से भी वधा हुआ रहता है और वाहरी मर्यादा से भी वधा हुआ रहता है ।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसपदा के पाच सूत्र है । उनमे एक सूत्र है—प्रति-क्रिया-विरति । प्रत्येक व्यक्ति के मन पर वाहरी उद्दीपनो का प्रभाव पडता है । उसके कारण ही भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण होते है । ध्यान साधना के

द्वारा ऐसी स्थिति का निर्माण हो जाए कि उद्दीपन उद्दीपन न रहे, प्रभावहीन हो जाए। मन पर उनका कोई प्रभाव न पड़े। यह है प्रतिक्रिया-विरति। इस स्थिति मे ही वाहरी व्यवस्था टूट सकती है। कोई भी वस्तु अपने आप मे उद्दीपक नही होती। गाली क्रोध का उद्दीपक तत्त्व है। पर जिस व्यक्ति का मन शान्त और पवित्र हो गया उसके लिए गाली मे उद्दीपकता नही रहती। वह समाप्त हो जाती है। ऐसे शात व्यक्ति को गाली दे, उसे क्रोध नही आएगा, परन्तु उसमे करुणा जागेगी। ऐसा क्यो होता है ? यह उल्टा परिणाम क्यों होता है ? इसका कारण है कि उस व्यक्ति के लिए गाली की उद्दीपकता समाप्त हो जाती है।

आचार्य भिक्षु कही जा रहे थे। सामने एक आदमी मिला। आचार्य भिक्षु को देख उसने वदना की। उनके चेहरे को ध्यान से देखकर पूछा—आपका नाम ? 'मेरा नाम भीखण है।' उसने आश्चर्य के साथ कहा—'कौन ! तेरापथी भीखन !'

'हा, तेरापथी भीखन।'

'वहुत बुरा हुआ।'

'क्या बुरा हुआ ?'

'आपका मुह देख लिया। अब मुझे नरक मे जाना पडेगा।

भीखन को यह सुन कर क्रोध आना चाहिए था, पर वे मुस्करा कर बोले—'अरे ! यह तो बताओ, तुम्हारे मुह देखने वाले की क्या गति होगी ?'

'मेरा मुह देखने वाला सीधा स्वर्ग जायेगा,' उसने कहा।

आचार्य भिक्षु बोले—'मैं तो इस बात को नही मानता कि किसी का मुह देखने से कोई स्वर्ग मे जाता है या कोई नरक मे जाता है। पर तुम्हारे कथनानुसार तो यह सिद्ध हो गया कि मैंने तुम्हारा मुह देखा है इसलिए स्वर्ग मे जाऊगा और तुम······ । मेरे लिए तो अच्छा ही हुआ।'

एक कटु बात को इस प्रकार विनोद से टाल देना हर एक के बूते की बात नही होती। एक साधक व्यक्ति ही इस प्रकार के प्रसंगो पर शान्तचित्त रह सकता है। आध्यात्मिक साधना के द्वारा चेतना रूपान्तरित हो जाती है और तब उद्दीपको मे उद्दीपकता नष्ट हो जाती है। उस समय न गाली उद्दीपक बनती है, न मार और प्रहार उद्दीपक बनता है। ये सारे उद्दीपक [illegible] उद्दीपित करने वाले बन जाते है।

एक [illegible] पर एक व्यक्ति ने हर बार थूका और [illegible] हुए इक्कीस बार गोदावरी मे स्नान करने गए और उन्होंने [illegible] माना। [illegible]

बदल जाती है, वही व्यक्ति इतना शात रह सकता है।

आदमी वातावरण से वधा हुआ है, परतंत्र है यह भी हम जानते है कि आदमी कितना स्वतत्र है, उद्दीपको से कितना मुक्त है और वातावरण से कितना अप्रभावित रहता है। दोनो पक्ष है। एक पक्ष है आदमी की स्वतंत्रता का और एक पक्ष है आदमी की परतत्रता का। जव तक चेतना परिष्कृत या परिमार्जित नही होती तब तक आदमी परतंत्रता का जीवन जीता है। जव चेतना परिष्कृत और सुसस्कृत हो जाती है तव आदमी स्वतंत्रता का जीवन जीने लग जाता है। ये दोनों पहलू – स्वतत्रता और परतत्रता—वातावरण से जुडे हुए है।

मनुष्य की परतत्रता का एक कारण रासायनिक प्रभाव भी है। शरीर मे अनेक प्रकार के रसायन बनते है। मस्तिष्क रसायनो का प्रचुर उत्पादन करता है। वह रसायनो का 'सुपर प्लान्ट' है। ग्रन्थिया रसायन पैदा करती है। पिच्यूटरी ग्लाण्ड बारह प्रकार के रसायन निर्मित करती है। अन्यान्य ग्रन्थियां भी रसायनो की निर्मात्री है।

रसायन दो प्रकार के होते है—बाहरी रसायन और भीतरी रसायन। दोनो प्रकार के रसायन आदमी के व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते है।

किसी व्यक्ति मे क्रोध, भय, घृणा का आवेग उभरता है तो एक मनोवैज्ञानिक कहेगा कि आवेगो का दायित्व मनुष्य पर नही है। भीतर के रसायन इसके लिए उत्तरदायी है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि प्रत्येक आदमी एक प्रकार से रासायनिक जीवन जी रहा है। अभी-अभी एक नई खोज हुई है। अमेरिका के राष्ट्रीय मानव स्वास्थ्य के वैज्ञानिक डा० सीवेनपाल ने कहा 'आज तक हम नही जानते थे कि चिंता पैदा करने वाले रसायन कौन से है, किन्तु अव हमे वे रसायन ज्ञात हो गए है। हम चिंता मिटाने वाले रसायनो को तो पहले से ही जान चुके थे, पर अव उनको पैदा करने वाले रसायनो का भी पता लगा लिया है। मनोचिकित्सक ऐसी दवा देता है कि चिन्ता में डूवा हुआ आदमी सुख और शाति का अनुभव करने लग जाता है। अव ऐसा इजेक्शन दिया जा सकता है कि शान्त और सुखी आदमी क्षण भर मे चिन्ताग्रस्त होकर दु:खी हो जाए। आदमी स्वतत्र कहा है ? एक दवा से वह चिन्तातुर होकर चिन्ता के महासागर मे डूव जाता है और दूसरी दवा से वह चिंता से मुक्त होकर आनन्द के महासमुद्र मे डुवकिया लेने लग जाता है। एक प्रयोग से आदमी मे खाने की लालसा उभर आती है और दूसरे प्रयोग से उसमे खाने के प्रति अरुचि हो जाती है। यह सारा विद्युत् प्रकम्पनों के द्वारा होता है। आज रसायनो के विषय मे इतनी विशद जानकारी प्राप्त हो गई है कि

व्यक्ति को कैसा बनाया जाए, यह सारी कला रासायनिकविदो के हाथ मे है। आज वे प्रयोगशाला मे बैठे-बैठे व्यक्ति के भाग्य पर नियन्त्रण करते है। यह बहुत अच्छा नही हुआ, बुरा हुआ है। यदि यह बात वैज्ञानिकों के हाथ में आ गई और राजनीतिज्ञों ने इसका उपयोग करना शुरू कर दिया तो फिर वे अपने विपक्ष वालो को कभी चितामुक्त नही होने देगे। उन्हे चिन्ता मे डाले रखेंगे। चिन्ता की स्थिति मे, वे विरोध करना भूल जाएगे। किसी बहाने उनको पकड़ कर ऐसा इजेक्शन दे देंगे कि वे बेचारे जीवन भर चिन्ताग्रस्त होकर सड़ते रहे। यह बात अच्छी नही है, पर है सच।

आदमी रसायनों से बनता-बिगड़ता है। बाहर के रसायन खोजे गए हैं जो आदमी के चरित्र को प्रभावित करते हैं। भीतर के रसायन भी कम प्रभावित नही करते। उनका भी गहरा प्रभाव होता है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से भी कहा जा सकता है कि जितने आवेग उतने ही रसायन। कर्मशास्त्र मे इसे 'रसविपाक' कहा जाता है। रसविपाक कहे या रसायन—दोनो मे कोई अन्तर नही है। जहां कर्म का विपाक होता है वहां रस आता है। एक पूरी प्रक्रिया है। प्रवृत्ति या भाव या अध्यवसाय से कर्मशरीर मे एक स्पदन होता है। वहां से एक तरग चलती है। वह तरंग सूक्ष्म शरीर—तैजस शरीर मे आती है। फिर आगे बढती है और स्थूल शरीर मे आती है। स्थूल शरीर में अनेक केन्द्र बने हुए है। वहा आकर वह तरंग रसायन पैदा करती है और तब वे रसायन हमारे आचरण को प्रभावित करते हैं। यह जटिलता है। कितना परतन्त्र है आदमी ! अन्तःस्रावी ग्रन्थियो का रसायन सीधा रक्त के साथ मिलता है और आदमी उन रसायनो से प्रभावित जीवन जीता है। उन ग्रन्थियो के मुंह तो है नही। वे नलिका-विहीन ग्रथिया है। उनका स्राव सीधा रक्त मे जा मिलता है।

एक आदमी सिद्धान्त की लम्बी-चौडी बातें करता है, पर स्वयं आचरण नही कर पाता। यह ज्ञान और आचरण की दूरी, कथनी और करनी की दूरी या निर्लज्जता या ढिठाई आन्तरिक रसायनो के कारण होती है। वह कहता कुछ है और करता कुछ है, क्योंकि पिच्यूटरी का स्राव ठीक नहीं हो रहा है। जब तक पिच्यूटरी का स्राव समुचित नहीं होता तब तक अन्तर्दृष्टि नही जागती और इसके बिना कथनी और करनी की दूरी मिट नही सकती।

कुछ वर्ष पहले की बात है। अहिंसा पर सभा हुई और उसके अध्यक्ष बने बड़ौदा के नरेश गायकवाड़। अहिंसा विषय पर अनेक भाषण हुए। एक युवक भी बोला। उसका वक्तव्य बहुत [illegible] था। उसने कहा—हिंसा का विरोध होना चाहिए और अहिंसा का विकास होना चाहिए। [illegible] की शुद्धि [illegible]। [illegible]। पसीने से तरबतर हो गया। उसने अपनी जेब से रुमाल निकाला और

पोंछने के लिए और विडबना देखिए कि उस रूमाल के साथ उसकी जेव से एक अण्डा भी आ गिरा पृथ्वी पर। गिरते ही वह फूट गया।

ऐसे लोगो की कमी नही है दुनिया मे जो वक्तव्य देने में माहिर होते है, पर आचरण करने में क्लीव। उसका एक पक्ष उजागर होता है, पर आचरण का पक्ष अत्यन्त कमजोर होता है। यह दूरी क्यों होती है ? यदि मनोवैज्ञानिक, शरीरशास्त्री, रसायनविद् और वायोकेमिक विद्वान् को पूछा जाए तो वे सब यही कहेगे की दूरी का कारण मनुष्य नही है, यह सारा रसो के स्राव से होता है। स्राव सतुलित नही है, इसलिए ये सारी गड़बडिया होती है।

दो पहलू है हमारे सामने। एक है स्वतंत्रता का पहलू और दूसरा है परतंत्रता का पहलू। आदमी वहुत परतत्र है अपने शरीर के भीतर पैदा होने वाले रसायनो के कारण तथा बाहर से आने वाले रसायनों के कारण। प्राचीन भारत मे वाजीकरण, कामोद्दीपन आदि अनेक उद्देश्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के रसायन बनाए जाते थे और उनका प्रयोग भी होता था। आज भी यत्र-तत्र उन रसायनों के प्रयोग होते है। अच्छा आदमी रसायनो के प्रयोग से बुरा बन जाता है और बुरा आदमी अच्छा बन जाता है। आदमी के अच्छे बनने और बुरे बनने मे भीतरी और बाहरी—दोनों प्रकार के रसायनो का हाथ होता है। इतना परतत्र है आदमी ! इतना बंधा हुआ है रमायनो से आदमी !

हमारी परतंत्रता का एक पहलू है रासायनिक प्रतिबद्धता।

जीवन का दूसरा पहलू है—स्वतत्रता का। जब साधना के द्वारा चेतना बदलती है तब रसायनो का प्रभाव समाप्त हो जाता है। जहर का कार्य है मार डालना। क्या जहर मीरा को मार सका था ? मीरा ने जहर का प्याला पीया। कोई असर नही हुआ। भयकर सर्प चंडकौशिक क्या महावीर को मार सका ? उसकी एक फुफकार से आदमी राख का ढेर हो जाता है, पर उसने महावीर को कई वार डसा, पर व्यर्थ। महावीर पर कोई असर नही हुआ।

दक्षिण की एक घटना है। दो मुनि एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खडे थे। एक चरवाहा पेड़ के नीचे वैठा था। इतने मे एक काला नाग निकला। चरवाहा डरा और तत्काल पेड पर चढ गया। उसने सोचा, ये दो आदमी आंखे वन्द कर निश्चल खड़े है। इन्हे साप डस लेगा। वह सोच ही रहा था कि काला नाग फुफकारता हुआ उन दोनो मुनियो की ओर वढा और अत्यन्त रोप में दोनों के डक लगाए। रोप वढता गया और उसने तीन-तीन वार उन्हे काटा। अन्त मे थककर चला गया। चरवाहा देख रहा था। उसने सोचा, साप ने डंक मार दिया है। अव ये दोनो वेचारे परलोक धाम पहुचने

ही वाले है। बेचारे ! बेचारे !, वह देखता रहा। पर दोनो जैसे पहले खड़े थे, वैसे ही निश्चल खडे है। न कोई हलन-चलन है, न कोई विक्षोभ है और न कोई रोष है। कुछ समय बीता। ध्यान सपन्न हुआ। दोनो ने आखे खोली। चरवाहा वृक्ष से नीचे उतरा। उसने कहा— मुनि महाराज ! एक काला नाग आया था, आपको पता है ?

'नही हम नही जानते।'

'आपको उसने तीन बार डक लगाए, क्या दर्द नही हुआ ?

'हम नही जानते, काटा होगा ?'

'आप पर जहर का असर नही हुआ ? आप मरे नही ?'

'अरे भाई ! हम यहा थे ही नही। किसको काटा हम नही जानते।'

'ओह ! मेरे सामने खडे थे, सांप ने आपके शरीर पर डक लगाए। यह सब मैंने अपनी खुली आंखो से देखा है। उस समय मेरा मन कांप रहा था, करुणा आ रही थी और आप कहते है हमें तो पता नही है। आश्चर्य ! आश्चर्य !'

भाई ! हम शरीर मे नही थे। नाग ने शरीर को काटा होगा, हमे ज्ञात नही है।'

जब शरीर की पकड होती है तभी प्रभाव होता है। शरीर की पकड जितनी मजबूत होगी, प्रभाव भी उतना ही गहरा होगा। शरीर की पकड छूटेगी, चैतन्य के प्रति जागरूकता बढ़ेगी तो शरीर का भान नही रहेगा। शरीर का ममत्व छोड़ देने पर, शरीर रहेगा, उस पर कुछ भी घटेगा, पर चैतन्य अप्रभावित रहेगा। जब प्राण और चेतना—दोनो भीतर चले जाते है, उनका समाहार हो जाता है तब शरीर पडा है, उसे साप काटे, कोई भी काटे, कुछ असर नही होगा चेतना पर। यह दूसरा पक्ष है। हमारी चेतना रूपान्तरित होती है प्रेक्षा के द्वारा। वह परिष्कृत और परिमार्जित होती है ज्ञाता-दृष्टा भाव के द्वारा। उस स्थिति मे दोनो प्रकार के रसायनो का प्रभाव नही होता। यदि होता है तो अत्यल्प मात्रा मे। यह हमारी स्वतंत्रता का पक्ष है।

आज रासायनिक और वातावरण की दृष्टि से हमने स्वतत्रता और परतंत्रता के पहलू पर विचार किया। अब एक बहुत बडा आयाम हमारे सामने है कर्म की दृष्टि से। कर्म की दृष्टि से हम स्वतंत्र है या परतत्र— इस पर हमें चर्चा करनी है।

२
उत्तरदायी कौन ?

आज की चर्चा एक पौराणिक कहानी से प्रारम्भ करना चाहता हूं। कहानी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

एक खेत में गाय चर रही थी। मालिक खेत की रखवाली कर रहा था। उसने गाय को निकालने का प्रयत्न किया। गाय बोली—'मुझे क्यों निकाल रहे हो ?'

'तुम मेरा खेत खाए जा रही हो, मैं फिर क्या खाऊंगा ? किसी के खेत में घुसना और अनाज खा लेना अच्छा नहीं है।

'मैं बहुत दूर से आई हूं।'

'कहां है तुम्हारा निवास-स्थान ?'

'मेरा घर है स्वर्ग।',

यहां क्यों आई हो ?'

'मैंने अनाज को देखा। मन ललचा गया, इसलिए उसे खाने चली आई। तुम मुझे मत निकालो। खाने दो।'

'तो फिर मैं क्या खाऊंगा ?'

'चिन्ता मत करो, मेरे साथ चलो स्वर्ग मे। मैं तुम्हें भरपेट लड्डू खिलाऊंगी।' किसान मान गया। गाय उसे साथ लेकर स्वर्ग में गई और उसे खूब लड्डू खिलाए।

किसान ने लड्डू कभी खाए नहीं थे। उसे लड्डू स्वादिष्ट लगे। वह बोला—'गाय माता ! तुम रोज मेरे खेत में आना। भरपेट अनाज खाना और मुझे रोज यहां ले आना।'

गाय ने यह समझौता स्वीकार कर लिया।

गाय रोज खेत मे आती और किसान रोज स्वर्ग मे जाता।

यह क्रम कुछ दिनो तक चला।

एक दिन घरवाले खेत मे आए और खेत को देख आश्चर्यचकित रह गए। खेत आधा खाया जा चुका था।

उन्होंने घर-स्वामी से पूछा—'खेत की यह अवस्था कैसे हुई ? अभी तो फसल कटी ही नही और खेत आधा खाली हो गया। क्या हुआ ?

'मैं नही जानता।'

'कैसे नही जानते ? तुम रखवाले हो खेत के। तुम उत्तरदायी हो। उत्तर दो कि फसल कहा गई ?'

घर वाले बोले—'तुम बडे स्वार्थी निकले । खेती मे सबका हिस्सा है। तुम अकेले-अकेले स्वर्ग में जाते हो और लड्डू खा आते हो। अब ऐसा नही हो सकेगा ?'

दूसरा दिन उगा। स्वर्ग से कामधेनु गाय आई। आते ही वह फसल खाने लगी। किसान ने कहा—'अब मुसीबत आ गई है। अब तुम फसल नही खा सकोगी।'

'क्यो ?'

'घर के सभी सदस्य लड्डू खाने के लिए ललचा रहे है।'

'सबको ले चलो स्वर्ग मे। सबको लड्डू खिलाऊंगी।' घरवाले राजी हो गए।

तीसरे दिन गाय आई। किसान ने गाय की पूछ पकड़ ली। शेष सदस्य एक दूसरे की टाग पकड़े किसान की टाग पकड़कर लटक गए। गाय आकाश मे उड़ी और स्वर्ग की ओर चल पडी। कुछ समय बीता। एक व्यक्ति के मन मे विकल्प उठा कि स्वर्ग के लड्डू कितने बड़े होते है ? हम उन्हें खा सकेंगे या नही ! वह विकल्प के फदे मे फस गया। अपने आपको रोक नही सका। वह बोला—'बाबा ! हम सबको स्वर्ग मे ले जा रहे हो। वहा हमे लड्डू खिलाओगे। पर यह तो बताओ कि लड्डू कितने-कितने बडे हैं ?'

बाबे को भी ध्यान नही रहा। वह भी विकल्प में उलझ गया। उसने गाय की पूंछ छोड़ दी और हाथ फैलाकर बोला—इतने-इतने बड़े है स्वर्ग के लड्डू।'

पूछ को छोडते ही, सभी एक साथ धडाम से जमीन पर आ गिरे।

अब प्रश्न होता है कि नीचे गिराने मे कौन उत्तरदायी है ? क्या पूछने वाला उत्तरदायी है अथवा उत्तर देने वाला उत्तरदायी है। यह एक जटिल प्रश्न है। प्रत्येक आचरण और व्यवहार मे प्रश्न उभरता है कि उत्तरदायी कौन ? यदि उत्तरदायी का स्पष्ट निर्णय हो जाता है तो अनेक समस्याओ का समाधान प्राप्त हो जाता है। उत्तरदायी के निर्णय मे भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से सोचते है, कहते है।

मनोवैज्ञानिक कहेगा कि व्यवहार के विषय मे उत्तरदायी है आनुवंशिकता, वातावरण और स्थिति। समूचे व्यवहार और आचरण के लिए ये तीन तत्त्व उत्तरदायी है। आदमी का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग मे 'लड्डू कितने बड़े है ?' यह प्रेरक तत्त्व उत्तरदायी है।

[illegible] कहेगा कि हमारे आचरण के लिए उत्तरदायी है नाडी-तंत्र, ग्रंथि-तंत्र, रसायन। नाडीतंत्र और ग्रंथितंत्र से पैदा होने वाले रसायन

उत्तरदायी हैं। आदमी का उत्तरदायित्व समाप्त हो गया।

इसीलिए अनेक लोग कहते है—व्यक्ति क्या करे ? उसका कोई अस्तित्व ही नही बचता। रसायन उसे जैसे चलाते है, वैसे ही वह चलता है।

ईश्वरवादी कहते है—ईश्वर की इच्छा के विना एक पत्ता भी नही हिलता। सारा उत्तरदायित्व आता है ईश्वर पर।

धार्मिक व्यक्ति कहता है, आचरण और व्यवहार का पूरा दायित्व है कर्म पर। कर्म उत्तरदायी है।

कुछ दार्शनिक कहते है—काल उत्तरदायी है। कुछ कहते है—स्वभाव उत्तरदायी है और कुछ कहते है—नियति उत्तरदायी है। इस प्रकार पाच मुख्य दार्शनिक धाराएं है—कालवाद, स्वभाव, ईश्वरवाद, नियतिवाद और कर्मवाद। पाचों पाच भिन्न-भिन्न तत्त्वो को उत्तरदायी मानते है।

कालवादी कहता है, काल के बिना कुछ भी नही हो सकता। सब कुछ काल करता है। जब काल का परिपाक होता है, तब सब कुछ घटित हो जाता है। आज का जन्मा बच्चा आज ही विद्वान्, योद्धा या व्यापारी नही बन जाता। जैसे-जैसे काल बीतेगा, उसमे ये योग्यताएं अभिव्यक्त होती जाएंगी। प्रत्येक कार्य का कर्तृत्व काल मे निहित है। काल ही उत्तरदायी है।

यह सुनने मे और व्यवहार मे उचित भी लगता है। काल के परिपाक के बिना कुछ भी नही होता। आज ही बीज बोया और आज ही आम का वृक्ष उग आएगा, कभी संभव नही है। उसका उगना, आम का लगना और पकना, काल-सापेक्ष होता है। काल ही सब कुछ है। मौत आती है तो काल से आती है और जीवन चलता है तो काल से चलता है। काल का एक पूरा चक्र है। सर्दी के मौसम मे सैकडो लोग ज्वरग्रस्त हो जाते है और गर्मी मे सैकडो लोग लू से संतप्त हो जाते है। यह ऋतु का चक्र है, काल का प्रभाव है। जिस समय जो-जो ऋतु होती है, उस समय वैसा ही प्रभाव होने लग जाता है ? सर्दी मे लू क्यो नही लगती ? गर्मी मे सर्दी-जुकाम अधिक क्यो नही होता ? सर्दी मे भिन्न प्रकार की बीमारिया होती है और गर्मी मे भिन्न प्रकार की बीमारियां होती है तथा वर्षा मे भिन्न प्रकार के रोग होते है। काल के प्रभाव से ये बीमारियां ही नही होती, मनुष्य के मनोभाव भी बदलते रहते है। सर्दी मे एक प्रकार का मनोभाव होता है तो गर्मी मे दूसरे प्रकार का मनोभाव होता है।

मनुष्य के जीवन की घटनाओ के साथ ज्योतिर्विज्ञान का गहरा संबंध जुड़ा हुआ है। आज वह विज्ञान विस्मृत-सा हो रहा है। अन्यथा इस विज्ञान के आधार पर प्रत्येक घटना की जानकारी सहज-सुगम हो जाती है। ज्योति-

विज्ञान काल-विज्ञान है। यह काल से जुड़ा हुआ विज्ञान है।

एक आदमी बीमार है। दवा दी। कोई असर नही हुआ। क्यो ? इसका भी पुष्टकारण है। प्रत्येक औषधि ज्योतिर्विज्ञान के साथ जुड़ी हुई है। वहां बताया गया है, कौन व्यक्ति किस समय मे, किस नक्षत्र मे औषधि को तोडे और किस नक्षत्र मे उसे लाए ? प्रातः, मध्याह्न मे या सायं ? प्रत्येक के साथ काल का संबंध है। काल की सीमा को विस्मृत कर देने का ही यह परिणाम है कि आज औषधि उतना लाभ नही कर रही है जितना लाभ करना चाहिए था।

काल नियामक तत्त्व है।

कुछ स्वभाववाद को मानते है। उनके अनुसार सब कुछ स्वभाव से घटित होता है। वस्तु का जैसा स्वभाव होता है वैसा ही परिणमन होता है। प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति का अपना स्वभाव होता है। अग्नि का अपना स्वभाव है और पानी का अपना स्वभाव है। स्त्री का अपना स्वभाव है और पुरुष का अपना स्वभाव है। स्वभाव के अनुसार सारा परिवर्तन होता है, घटनाए घटित होती है। कुत्ते का स्वभाव है भौंकना। कुत्ता चाहे फिर बालोतरा का हो, दिल्ली का हो या मास्को और न्यूयार्क का हो। स्वभाव व्यापक होता है। चीटी का अपना स्वभाव होता है तो मक्खी का अपना स्वभाव होता है। यह स्वभाव है, इसे सिखाया नही जाता। सर्वत्र इसमे एकरूपता मिलती है। इसलिए प्रत्येक घटना के लिए उत्तरदायी है स्वभाव। यह स्वभाववादी की धारणा है।

कुछ दार्शनिक मानते है कि व्यक्ति कुछ नही करता। वह अत्यन्त असहाय है। उसका अपना कुछ भी स्वतन्त्र कर्त्तृत्व नही है। जो कुछ होता है। वह सब नियति के अधीन है। नियति का अर्थ ठीक से नही समझा गया। लोग इसका अर्थ भवितव्यता करते है। जो जैसा होना होता है, वह वैसा हो जायगा—यह है भवितव्यता की धारणा, नियति की धारणा। नियति का यह अर्थ गलत है। इसी आधार पर कहा गया—'भवितव्य भवत्येव गजभुक्तकपित्थवत्—जैसा होना होता है वैसा ही घटित होता है। हाथी कपित्थ का फल खाता है और वह पूरा का पूरा फल मलद्वार से निकल आता है, क्योकि भवितव्यता ही ऐसी है। नारियल के वृक्ष की जड़ों मे पानी सींचा जाता है और वह ऊपर नारियल के फल मे जाता है। यह भवितव्यता है। यह नियतिवाद माना जाता है। पर ऐसा नही। नियति का अर्थ ही दूसरा है। नियति का वास्तविक अर्थ है—जागतिक निर्धारण, सार्वभौम नियम, यूनिवर्सल लॉ। उसमे कोई अपवाद नही होता। वह सब पर समान रूप से लागू होता है। वह चेतन और अचेतन—सब पर लागू होता है। उसमे अपवाद की कोई गुंजाइश नही होती।

नियम सबके लिए होता है। सम्राट् बिम्बसार के समय मे ऐसी कोई घटना घटी कि नगर के अनेक घरों मे अचानक अग्नि लग जाती। सभी परेशान थे। सम्राट् ने यह घोषणा करवाई कि जिसके घर मे आग की यह घटना घटे, उसे वह रात श्मशान में बितानी होगी। आदेश आदेश था। जिसके घर मे आग लग जाती, उसे श्मशान मे रात बितानी पडती। एक दिन ऐसा हुआ कि सम्राट् के महल में आग लग गई। घोषणा के अनुसार सम्राट् ने श्मशान मे जाने की तैयारी की। सामन्तो ने निवेदन किया कि आप सर्वेसर्वा है। आप श्मशान मे न जाए। सम्राट् बोला—नियम नियम है। वह सबके लिए है। मै इसका अपवाद रहना नही चाहता।'

एक आश्रम के अधिष्ठाता ने नियम बनाया—कोई भी आश्रमवासी यदि चार बजे के बाद उठेगा, उसे आश्रम के सभी वृक्षो को सीचना होगा। वह निरपवाद नियम बन गया। एक दिन आश्रम के अधिष्ठाता आचार्य स्वयं विलम्ब से उठे। नियम के अनुसार वे वृक्षो मे पानी देने लगें। अन्यान्य आश्रमवासियो ने कहा—गुरुदेव ! यह काम हम कर लेगे। आप पधारें। आचार्य ने कहा—मै नियम का अपवाद नही हू। मैने ही तो यह नियम बनाया था और मैं ही इसका अपवाद बन जाऊ, यह नही हो सकता।

जिस नियम मे कोई अपवाद नही होता, वह है नियति। जिसमे अपवाद होता है, वह नियति नही, सामान्य नियम होता है। नियति है सार्वभौम नियम, यूनिवर्सल लॉ। हमारे जीवन-चक्र के हजारो शाश्वत नियम है। जगत् के हजारो शाश्वत नियम हैं। उसमे अपवाद नही होता। मृत्यु एक नियति है। क्या कोई इसका अपवाद बना है आज तक ! कोई नही बना और न बन सकेगा। जो जन्मता है, वह मरता है। जिसने जन्म लिया है, वह आज या कल अवश्य मरेगा। जो जीवनधर्मा है वह मरणधर्मा है। यह नियति है, निश्चिति है। जीवन के साथ मृत्यु जुडी हुई है। गीता मे कहा है—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। जो जन्मा है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरे है उनका जन्म भी निश्चित है। जन्म और मरण—दोनो अनिवार्य नियम है। ये नियति है। प्रत्येक प्राणी की यह नियति है। यदि हम 'मरण' शब्द को छोड दे तो अचेतन मे भी नियति है। कोई भी अचेतन द्रव्य शाश्वत नही है। वह बदलता है, बदलता रहता है। एक परमाणु भी एक रूप मे नही रहता। उसे बदलना ही पडता है। चेतना जगत् में जन्म और मृत्यु होती है और अचेतन जगत् मे जन्म और मृत्यु न कहकर, उत्पादन और व्यय होता है। इसका अर्थ है उसका एक रूप बनता है, दूसरा नष्ट हो जाता है। एक रूप का उत्पादन होता है और दूसरे का व्यय होता है, नाश होता है।

उत्पादन और व्यय का चक्र, जन्म और मृत्यु का चक्र, रूपान्तरण का

चक्र नियति है। वे शाश्वत नियम, जो चेतन और अचेतन पर घटित होते हैं, उन सारे नियमों का अर्थ है नियति। नियतिवाद बहुत बड़ी बात है। नियतिवादी जो कहते हैं—'जैसा नियति में है, वैसा होगा', यह त्रुटिपूर्ण प्ररूपणा है। इनमें अनेक बड़े-बड़े दार्शनिक चूके हैं। उन्होंने नियति को—सार्वभौम नियम को सामान्य नियम के रूप में स्वीकार कर लिया, इसीलिए नियति का सिद्धान्त भ्रामक बन गया।

नियति के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए हमें यह मानना पड़ेगा कि नियम दो प्रकार के होते हैं—

१. मनुष्य द्वारा कृत नियम।

२. सार्वभौम नियम।

मनुष्यों द्वारा कृत नियम नियति नहीं है। नियति वह है जो प्राकृतिक नियम है, स्वाभाविक और सार्वभौम नियम है। जो नियम जागतिक है, सब पर लागू होता है, वह है नियति। हम नियति के पंजे से नहीं छूट सकते। प्रत्येक व्यक्ति नियति से जुड़ा हुआ है, नियति के साथ चल रहा है। कोई भी इसका अपवाद नहीं है।

चर्चा बहुत गहरी है, पर आवश्यक है। जैन दर्शन में दो राशियां मानी गई हैं—एक है व्यवहार राशि और दूसरी है अव्यवहार राशि। इसका अर्थ है कि हमारी इस सृष्टि में अनन्त-अनन्त जीव ऐसे हैं जो वनस्पति संसार को छोड़कर दूसरी योनि में नहीं गए। वह वनस्पति जगत् जीवों का अक्षय स्थल है। उसमें से जीव उत्क्रमण करते हैं और अन्यान्य विभिन्न योनियों में जन्म-ग्रहण करते हैं। पर ऐसे भी उसमें अनन्त जीव हैं जो आज तक उस योनि से बाहर नहीं आए। वे वहीं जन्मते हैं और मरते हैं। फिर वहीं जन्मते हैं और मरते हैं। यह क्रम अनन्तकाल से चल रहा है। जो जीव उस वनस्पति योनि से कभी मुक्त नहीं होते वे अव्यवहार राशि के जीव कहलाते हैं और जो जीव वहां से निकलकर अन्यान्य योनियों में जाते हैं वे व्यवहार राशि के जीव कहलाते हैं। अव्यवहार राशि का तात्पर्य है कि जिनमें व्यवहार नहीं है, भेद नहीं है, विभाग नहीं है। सब एक समान।

दो इन्द्रिय वाला और कोई अधिक इन्द्रिय वाला हो जाता है। विभाग बढ़ते जाते है। प्रश्न होता है कि वह वहा से क्यो निकलता है ? कैसे निकलता है ? अव्यवहार से व्यवहार में कैसे आता है ? इसका उत्तर नही दिया गया। लगता है यह केवल नियति है, स्वाभाविक नियम है, सार्वभौम नियम है। इसका उत्तर इतना ही है ऐसा होता है। क्यो होता है—यह अप्रश्न है यहां।

तर्क एक तत्त्व अवश्य है, पर वह सार्वभौम सत्ता नही है। वह ईश्वर नही है कि सर्वत्र व्याप्त हो। तर्क सर्वत्र लागू नही होता। कहा भी गया है—'स्वभावे तार्किका भग्ना:'—स्वभाग मे तर्क स्खलित हो जाता है। वह वहा लागू नही होता। अतर्क के स्थान मे तर्क का प्रयोग समस्या पैदा करता है। जो व्यक्ति तर्क की मर्यादा और सीमा को नही जानता, वह गलत परिणाम पर पहुचता है।

एक तार्किक था। वह बाजार मे घी खरीदने गया। उसने घी खरीदा। घी से भरा बर्तन लेकर वह घर की ओर लौट रहा था। उसके मन में एक विकल्प उठा—'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्'—घी का आधार पात्र है या पात्र का आधार घी है ? वह विकल्प मे उलझ गया। तर्क भी तो एक विकल्प ही है। विकल्पातीत नही होता तर्क। केवल अनुभव ही विकल्पातीत और तर्कातीत हो सकता है। तर्क अनुभव नही है। वह तार्किक 'घृताधार पात्रं वा पात्राधारं घृतम्, के तर्क में उलझ गया। वह सोचता रहा। विकल्प प्रबल होता गया। उसने अन्तिम निर्णय के रूप में सोचा कि परीक्षण कर लू कि घी पात्र मे टिका हुआ है या पात्र घी मे टिका हुआ है ? उसने पात्र को उल्टा किया। घी नीचे गिरा और वह बोला—परीक्षण हो गया। सचाई हाथ लग गई कि 'घृताधारं पात्र' है, 'पात्राधारं घृत' नही है। घी पात्र मे टिका हुआ है, पात्र घी मे टिका हुआ नही है। उसका विकल्प घी को ले डूबा। घी मिट्टी मे मिल गया।

तर्क की भी एक सीमा होती है। कहा तर्क करना चाहिए और कहा नही, यह जानना आवश्यक होता है। नियति में कोई तर्क नहीं होता। वहां तर्क की पहुच नही है। वह तर्क के द्वारा जानी नही जा सकती। वह तर्कातीत अवस्था है। मनुष्य के द्वारा निर्मित नियमो में तर्क का प्रवेश हो सकता है। यह नियम क्यो बना—ऐसा पूछा जा सकता है। मनुष्य नियम बनाता है तो उसके पीछे कुछ न कुछ प्रयोजन होता है। निष्प्रयोजन नियम नही बनाए जाते। न्यायशास्त्र कहता है—'यत् यत् कृतकं तत् तत् अनित्यं'—जो कृतक किया हुआ होता है, वह अनित्य होता है, शाश्वत नही होता। शाश्वत होता है अकृत, जो किया हुआ नही होता। वह है बस, यही उसकी मर्यादा है। मनुष्य का बनाया हुआ नियम शाश्वत नही होता, नियति नही होता।

नियति शाश्वत है । उसके नियम स्वाभाविक और सार्वभौम होते है । वे अकृत हैं । बनाए हुए नही है, इसीलिए शाश्वत है ।

नियतिवाद की प्राचीन व्याख्या से हटकर मैंने यह नई व्याख्या प्रस्तुत की है । मैं जानता हूं कि यह नियतिवाद की वैज्ञानिक व्याख्या है । जैन दर्शन ने इसी व्याख्या को स्वीकारा है ।

ईश्वरवाद को मानने वाले सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर डाल देते है । वे कहते है—प्राणी बेचारा अत्यन्त अनजान है । वह अपने सुख-दुःख के विषय मे क्या जाने ? ईश्वर की प्रेरणा से ही वह स्वर्ग में जाता है और उसी की प्रेरणा से वह नरक मे जाता है । सारा उत्तरदायित्व ईश्वर का है ।

कर्मवाद को मानने वाले कर्म को उत्तरदायी बताते है । भला-बुरा कुछ भी होता है, वे सब कुछ कर्म पर डाल देते है । अच्छे का उत्तरदायित्व कर्म पर डालते है, बुरे का उत्तरदायित्व कर्म पर डालते है । सीधी बात कहते है—मैं क्या करता, कर्म में ऐसा ही लिखा था । कर्मवादी अपने आप को बचाकर कर्म को उत्तरदायी मानते है । आदमी बच गया, कर्म फंस गया ।

'हम क्या करे, कर्म मे ऐसा ही लिखा था'—इस मिथ्या धारणा ने अनेक भ्रान्तियां पैदा की है । इस धारणा ने गरीबी, बीमारी, दुर्व्यवस्था और अज्ञान को बढने मे सहारा दिया है, आलम्बन दिया है, इन्हे टिकाए रखा है । कर्मवाद को एकाकी उत्तरदायी मान लेना गलत धारणा है । कर्मवाद व्यापक सिद्धान्त है । कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद—ये इतने व्यापक नही है, जितना व्यापक है कर्मवाद । ईश्वरवादी भी कर्मवाद को स्वीकार करते हैं और अनीश्वरवादी भी कर्मवाद को स्वीकार करते है । आदमी जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे भुगतना पडता है । यह तथ्य इस से समझाया जाता है कि आदमी के पुरुषार्थ का दीप बुझ जाता है और वह जाने-अनजाने इस अन्धकार मे भटक जाता है । वह मानने लग जाता है । कि मैं असहाय हू । मैं कुछ कर नही सकता । जैसा पहले का कर्म-फल है वैसा ही मुझे प्राप्त होता रहेगा ।

मनुष्य में कुछ विशेषताएं होती है । उसमे कुछ विशेष गुण है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शक्ति, क्षमता, कर्तृत्व—ये उसके गुण हैं । उनमे सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जन्म-मृत्यु, बड़प्पन-छुटपन आदि होते है । उनमें शरीरगत विशेषताएं होती हैं । कोई काला है, कोई गोरा है, कोई नाटा है, कोई लंबा है, कोई सुरूप है, कोई कुरूप है—ये सारी बाते कर्म के साथ जोड़ी गई हैं । इनको समझाने के लिए ऐसे-ऐसे उदाहरण दिए जाते है कि व्यक्ति के मन मे यह संस्कार सहज रूप मे जम जाता है कि मैं कुछ भी नहीं हूं । सब कुछ करने वाला है कर्म । सारा दोष कर्म पर है । मैं तो [illegible]

जाता है ।

मैं मानता हूं कि जिन उदाहरणों के द्वारा ये तथ्य समझाए जाते है, वे यथार्थ है, गलत नही है । जो बताया जाता है वह सही है पर सही बात को भी कैसे पकड़ा जाए, यह हमारे दृष्टिकोण का प्रश्न है । बहुत बार ऐसा होता है कि सही बात को गलत समझ लिया जाता है और गलत बात को सही समझ लिया जाता है । भ्रान्तियां अनेक स्थानों पर हो सकती है—सुनने में भ्रान्ति, समझने में भ्रान्ति, व्याख्या करने वाले में भ्रान्ति । इन भ्रान्तियो के कारण सही बात भी गलत बन जाती है और गलत बात भी सही बन जाती है । इतनी भ्रान्तियों के रहते सचाई को कैसे पकड़ा जाए ? इस प्रकार कर्म-वाद के विषय में भी अनेक भ्रान्तियां हुई है ।

३
अतीत से बंधा वर्तमान

कर्म-सिद्धान्त मे यह प्रतिपादित है और कर्मवाद को मानने वाला व्यक्ति इस धारणा से बद्ध हो जाता है कि मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व, उसका पूरा वर्तमान अतीत से बन्धा हुआ है। अतीत की जकड और पकड को छोडने मे वह समर्थ नही है। यह धारणा अकारण नही है। जब हम अपने जीवन के सभी पक्षो पर दृष्टिपात करते है और उन पक्षो को जिस भाषा और उदाहरणो के द्वारा हमे समझाया गया है, उस परिप्रेक्ष्य मे यह धारणा सहज ही बन जाती है।

जीवन के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष है—ज्ञान और दर्शन। ये दोनो आवृत है। ज्ञान भी आवरण से मुक्त नही है और दर्शन भी आवरण से मुक्त नही है। कांच के दृष्टान्त से इसे समझाया गया है कि कांच में प्रत्येक व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब देख सकता है। जब कांच पर पर्दा डाल दिया जाता है तो प्रतिबिम्ब दिखाई नही देता। जब काच अन्धा हो जाता है तब भी उसमे प्रतिबिम्ब नही पडता। जब काच हिलता-डुलता रहता है तब भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट नही होता।

ज्ञान की असीम शक्ति है। वह आवृत है। इससे सहज यह धारणा बनती है कि हमारा ज्ञान स्वतंत्र नही है। हम स्वतत्र नही है। हमारी चेतना निरवकाश नही है। उसके अवकाश पर पर्दा है, बाधा है।

हमारी दर्शन की शक्ति भी स्वतंत्र नही है। उसे उदाहरण से इस प्रकार समझाया गया कि एक व्यक्ति राजदरबार मे राजा से भेंट करना चाहता था। वह राजद्वार पर आया और सीधा भीतर जाने लगा। द्वारपाल ने उसे रोक दिया। इसी प्रकार हमारे दर्शन को भी एक द्वारपाल रोके हुए है। दर्शन की शक्ति अवरुद्ध है।

इस प्रकार हमारा ज्ञान और दर्शन—दोनो आवृत है, अवरुद्ध है। हमारी दृष्टि और चारित्र भी मुक्त नही है। मोह—मूर्च्छा के द्वारा दृष्टि मे विकार पैदा हो गया है। यह है दृष्टि का विपर्यास। इसलिए व्यक्ति ठीक देख नही पाता, ठीक निर्णय नही ले पाता। दृष्टि भी विकृत और चारित्र भी विकृत। मोह-मूर्च्छा के कीटे या [illegible]

शरीर एंठता जा रहा है। आज मनुष्य मूर्च्छा की स्थिति मे जी रहा है।

एक आदमी ने छककर शराव पी ली। वह भान भूल वैठा। अव वह न सही निर्णय ही ले सकता है और न सही ढंग से देख ही सकता है। न सही दृष्टि है, न चारित्र सही है और न व्यवहार सही है। सारा उलटा ही उलटा है।

आठ कर्मो में एक कर्म है—मोहनीय। यह कर्म मदिरा की भांति हर व्यक्ति को मूर्च्छित बनाए हुए है। इस दुनिया मे मदिरा पीने वाले लोग है तो मदिरा नही पीने वाले लोग भी है, किन्तु इस मोह की मदिरा को न पीने वाला मिलना दुष्कर है। हर आदमी इस मूर्च्छा से मूर्च्छित है। चेतना प्रमत्त है, अप्रमत्त नही है।

जीवन के दो अभिन्न साथी है—सुख और दु ख। कभी सुख होता है तो कभी दु.ख। यह युगल है। ये दोनो कभी अलग-थलग नही होते। दिन के वाद रात और रात के बाद दिन। सुख के वाद दु.ख और दु.ख के वाद सुख। यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। कभी कही रुकता नही। सुख-दु.ख भी कर्म से जुड़े हुए हैं। एक कर्म इस स्थिति को पैदा किए हुए है। उदाहरण की भाषा मे समझाया गया है। एक तीक्ष्ण धारवाली तलवार है। उस पर मधु का लेप है। आदमी उस मधु को खाना चाहता है। वह जीभ से मधु को चाटता है। पर उस प्रक्रिया मे उसकी जीभ कटे विना नही रहती। मधु के मिठास का स्वाद और जीभ का कटना—दोनों साथ-साथ होते है। यह है वेदनीय कर्म। यह कर्म सुख और दु.ख दोनो का घटक है। सुख के वहाने आदमी दु ख भोग रहा है। सुख की मिठास इतनी प्रबल है कि वह उसकी आकांक्षा को रोक नही पाता और वह सुख की लालसा में उस शहद की बूद को पाना चाहता है। 'मधुबिन्दु' का दृष्टान्त इसका स्पष्ट निदर्शन है। आदमी एक-एक वूद मधु के लिए तरस रहा है। उसके राथ न जाने दु.खों का कितना अम्बार लगा हुआ है। इसीलिए अध्यात्म के आचार्यो ने कहा कि जो सुख भोगा जा रहा है, वह सुख नहीं, वस्तुत. दु.ख है, क्योकि वह दु.ख को जन्म देता है। सारा दु.ख उसी सुख के द्वारा पैदा किया जा रहा है। इसलिए सुख वास्तव मे सुख नही है। दु ख ही है। सुख और दु ख दोनो कर्म से जुड़े हुए है।

जन्म और मृत्यु का एक युगल है। यह भी कर्म से जुडा हुआ है। आदमी अपने ही कर्म से जन्म लेता है और अपने ही कर्म से मरता है। कर्म के अभाव मे न जन्म है और न मृत्यु। दोनो कर्म से परतन्त्र हैं। एक वन्दी है उसके पैरो मे वेडी डाल दी। वह वदी तो है ही। पैरो में वेडी और पड गई, अव वह सर्वथा परतन्त्र हो गया। जन्म और मृत्यु—दोनो आयुष्य कर्म से वधे हुए हैं।

आदमी इस शरीर को अपना अस्तित्व मान रहा है। इस शरीर के आधार पर आदमी क्या-क्या नही करता। उस शरीर के आधार पर कितनी मूर्च्छाएं हो रही है, कितनी विडंबनाएं हो रही है। इस शरीर के द्वारा स्वभाव विस्मृत हो रहा है, विभाव उभर कर आ रहा है।

यह शरीर भी हमारी स्वतंत्र सृष्टि नही है। यह भी कर्म से वंधा हुआ है। इसका घटक है—नाम कर्म। अद्भुत चितेरा है यह। शरीर की रचना आश्चर्यकारी है। इस दुनिया मे मनुष्य ने अनेक आश्चर्यकारी कार्य किए है। किन्तु शरीर-रचना के संदर्भ मे आदमी आज भी वोना है। शरीर एक अद्भुत कारखाना है। दुनिया का कोई भी संयंत्र शरीर-यत्र की तुलना नही कर सकता। एक भी संयंत्र ऐसा नही है जो मनुष्य की कोशिकाओ का निर्माण कर सके, मनुष्य के मस्तिप्क का निर्माण कर सके। आज इतने वैज्ञानिक निर्माण कार्य मे लगे हुए है। टेस्ट ट्यूव में प्राणी को वे जन्म देने में सफल हुए हैं। वे कृत्रिम वर्पा भी करते है। परन्तु प्राकृतिक वर्षा होती है, मेढक टर्राने लग जाते है। घंटों भर मे हजारों प्राणी अस्तित्व मे आ जाते है। आदमी ऐसा नही कर सकता। वह आज भी दरिद्र है अपने कर्तृत्व मे। कहां है उसमे इतनी शक्ति और क्षमता। किन्तु नामकर्म इतना शक्तिशाली है कि उसने इस शरीर का निर्माण किया है, जिसके विपय मे कल्पना करना कठिन है और जानना अत्यन्त कठिन है। आज तक नामकर्म की निर्मिति—इस शरीर के रहस्यों को आदमी नही जान सका है। हजारो-हजारो रहस्य जान लेने पर भी उससे अधिक रहस्य अनजाने पडे हैं। आज भी खरबों-खरबो कोशिकाओ, क्रोमोसोम, जीन आदि-आदि के विपय मे हजारों वैज्ञानिक उलझे हुए है। वे शरीर की रचना के विषय मे अस्पष्ट है। वे अभी तक शरीर के एक अवयव—मस्तिप्क की भी पूरी जानकारी नहीं कर पाए है। हजारो वैज्ञानिक मस्तिप्क की प्रक्रिया के अध्ययन और खोज में लगे हुए है। दिन-प्रतिदिन नए-नए तथ्य सामने आ रहे हैं। पर उन तक [illegible] मस्तिष्क के पूरे रहस्य अभी तक पकड मे नही आ रहे हैं। इतना अद्भुत है यह शरीर। यह नामकर्म से वना है। नामकर्म के कुशल कारीगर ने इसे बनाया है।

हमारा शरीर और शरीर की रचना कर्म से बंधी है।

है। लोगो की दृष्टि में सम्माननीय होना या असम्माननीय होना दोनों कर्म से जुडे हुए है। गोत्रकर्म इसका घटक है। उसको कुम्हार से उपमित किया गया है। कुम्हार एक घडा ऐसा बनाता है कि वह बहुमूल्य वाला हो जाता है और एक घडा ऐसा बनाता है कि कोई उसे खरीदना नही चाहता। यह गोत्र नाम का कुम्हार इस सारी स्थिति का निर्माण कर रहा है।

हमारे जीवन की सबसे बडी विशेषता है शक्ति। यह भी कर्म से जुडी हुई है। इसे इस प्रकार समझाया गया है [कि एक आदमी राजदरबार मे गया और राजा की बिरदावली गाई। राजा ने प्रसन्न होकर उसे एक लाख रुपयो का पुरस्कार देने की बात कही। वह प्रसन्न हुआ और एक लाख रुपयो का रुक्का लिखाकर कोषाध्यक्ष के पास पहुंचा। कोषाध्यक्ष ने राजाज्ञा देखी, पर कहा—आज तो पारितोषिक मिला ही है, दो-चार दिन बाद रुपये मिल जाएगे। अब वह व्यक्ति प्रतिदिन कोषाध्यक्ष के पास जाता है, पर मुह लटकाए लौट आता है। कोषाध्यक्ष उसे टरकाता जाता है। यह कोषाध्यक्ष है अन्तराय कर्म। यह बाधा उपस्थित करता है। शक्ति को कार्य मे व्यापृत नही होने देता। दिनो, महीनों और वर्षो तक व्यवधान बना रहता है और कार्य होता नही।

हमारे जीवन के सारे महत्त्वपूर्ण पक्ष कर्म के साथ जुडे हुए है। इन सबका फलित होता है—अतीत से बधा वर्तमान। हमारा वर्तमान अतीत से बधा हुआ है। आदमी कहां है स्वतत्र। वह न ज्ञानार्जन करने मे स्वतत्र है। न सही दृष्टिकोण करने मे स्वतन्त्र है, न चरित्र का विकास और शक्ति का उपयोग करने मे स्वतन्त्र है। वह न इस शरीर और शरीर के साथ उत्पन होने वाली स्थितियों से निपटने मे स्वतत्र है। वह पकडा हुआ, जकडा हुआ और बन्दी बना हुआ बैठा है।

पुन. यही प्रश्न होता है कि कहां है आदमी स्वतन्त्र ? कहां उत्तर-दायित्व है अपने व्यवहार और आचरण के प्रति ? कौन है उत्तरदायी ? कर्म-वादी दार्शनिक कहेगा—तुम कहां स्वतन्त्र और उत्तरदायी हो ? स्वतन्त्र है कर्म। उत्तरदायी है कर्म। तुम्हारी न कोई स्वतन्त्रता और न उतरदायित्व।

अब हम पुन. एक बार दृष्टि डाले। कालवादी दार्शनिक सारा बोझ काल पर लाद देता है, स्वभाववादी दार्शनिक सारा भार स्वभाव पर डाल देता है, नियतिवादी दार्शनिक सब कुछ नियति को मानकर मुक्ति पा लेता है। ठीक इसी प्रकार कर्मवादी दार्शनिक सब कुछ कर्म को मानकर अकेला हो जाता है, पीछे खिसक जाता है। बडी समस्या, बडा आश्चर्य कि काल, स्वभाव, नियति और कर्म—ये सब प्रधान बन गए और चेतनावान मनुष्य गौण हो गया। ये सब आगे आ गए, मनुष्य पीछे चला गया। क्या इस स्थिति को यो ही स्वीकार कर चलें ? यदि इस स्थिति को स्वीकार करें तो फिर ध्यान, साधना करने की जरूरत ही क्या है ? धर्म-कर्म करने की आवश्यकता

ही क्या है ? जैसा कर्म और नियति है वैसा अपने आप घटित हो जाएगा। क्या मनुष्य इतना वेचारा, इतना असहाय, इतना विपन्न और इतना दरिद्र है कि वह वाहर के वंधनों से वन्धा हुआ चले और अपने अस्तित्व का अनुभव ही न करे। यह वहुत दयनीय स्थिति वन गई है। यह स्थिति इसलिए वनी ह कि व्यक्ति का दृष्टिकोण और चिन्तन एकागी हो गया। उसने सचाई को पकडा पर एकागी रूप में पकड़ा। उसको समग्रता से नही पकड़ा। जव तक समग्रता की दृष्टि से सत्य नही पकड़ा जाता तव पकड मे आने वाला सत्य होता ही नही। तव तक वास्तविकता हस्तगत नही होती।

हमारे दो मस्तिष्क है—एक है कडिशन्ड माइंड और दूसरा है सूपर माइड। एक है चेतन मन और दूसरा है अचेतन मन। मनोविज्ञान की भाषा मे दो मस्तिष्क है—एक है एनीमल माइन्ड और दूसरा है ह्यूमन माइन्ड। ये दो-दो विद्याएं है। मनुष्य मे जो एनीमल माइन्ड—पाशविक मस्तिष्क है, उसमे आदिकालीन संस्कार भरे पड़े है। उसमें क्रोध, घृणा, यौनवासना, ईर्ष्या—ये सारे सस्कार भरे हुए है। इन सारे आवेगो का उत्तरदायी है मनुष्य का पशु-मस्तिष्क या एनीमल माइन्ड, आदिम मस्तिष्क। दूसरे मस्तिष्क जो वाद मे विकसित हुआ है, मे उदात्त भावनाएं भरी हुई है। चेतन मस्तिष्क स्थूल मन है, जो शरीर के साथ काम कर रहा है और यह वुरी भावनाओ का भडार है। दूसरा है अचेतन मन जो शक्तियों का भंडार है। कर्मशास्त्र या अध्यात्म की भाषा में कहा जा सकता है—एक है विशुद्ध चेतना वाले मस्तिष्क की वह परत जो विशुद्ध चेतना का प्रतिनिधित्व करती है और एक है अशुद्ध चेतना की वह परत जो कषायी चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। हमारी चेतना दो रूपो मे काम कर रही है। एक है कपायित चेतना का कार्य और दूसरा है कषायमुक्त चेतना का कार्य, निर्मल चेतना का कार्य। इन्हे हम जैन तत्त्व की पारिभाषिक शव्दावली मे कह सकते है—एक है क्षायोपशमिक मस्तिष्क और दूसरा है औदयिक मस्तिष्क। कंडिशन्ड माइन्ड को औदयिक मस्तिष्क कहा जा सकता है और सूपर माइन्ड को क्षायोपशमिक मस्तिष्क कहा जा सकता है। औदयिक मस्तिष्क कर्म के उदय के साथ चलता है, अनेक शर्तों से वन्धा हुआ चलता है। यह चेतना कपाय से वन्धी हुई है, कडिशन्ड है। यह स्वतत्र नही है।

सूपर माइन्ड है निर्मल चेतना, क्षायोपशमिक चेतना। यह जागृत अवस्था है।

हमारे सामने दोनो स्थितिया है, दोनो मस्तिष्क है। एक है औदयिक भाव से वंधी हुई चेतना या मस्तिष्क और दूसरी है क्षायोपशमिक भाव से वन्धी हुई चेतना या मस्तिष्क।

मैंने 'अतीत से वंधा हुआ वर्तमान'—इस विषय मे चर्चा की।

संदर्भ में अपने उत्तरदायित्व से पलायन करने वाली मनःस्थिति अपने कर्तृत्व से भाग जाने वाली परिस्थिति की चर्चा की है। सुनने वाले इसमें उलझ सकते है। अब हमे औदयिक और क्षायोपशमिक मस्तिष्क के विषय में भी चर्चा करनी है और उस उलझन से निपटना है।

४
अतीत से मुक्त वर्तमान

हम चर्चा करते है स्वतंत्रता और परतन्त्रता की। कौन स्वतन्त्र है और कौन परतंत्र? कौन उत्तरदायी है? इन प्रश्नो का उत्तर एकान्त की भाषा मे नही दिया जा सकता। हम नही कह सकते कि हम पूर्ण स्वतंत्र है। हम यह भी नही कह सकते कि हम पूर्ण परतंत्र है। दोनो सापेक्ष है। हम स्वतन्त्र भी हैं और परतंत्र भी है। जहां-जहां निरपेक्ष प्रतिपादन होता है वहां समस्या का समाधान नही होता; सत्य उपलब्ध नही होता, सत्य के नाम पर असत्य उपलब्ध होता है।

महान् वैज्ञानिक आइस्टीन ने सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया और उसका आधार माना प्रकाश की गति को। उन्होने प्रकाश की गति को स्टेडर्ड मानकर अनेक प्रयोग किए। प्रकाश की गति है एक सेकण्ड मे एक लाख छियासी हजार मील की। इस आधार पर जो निर्णय लिए गए वे सारे सापेक्ष निर्णय है, निरपेक्ष नही। प्रकाश की गति सापेक्ष निर्णय है। प्रकाश की गति और तीव्र होती तो सारे निर्णय बदल जाते। काल छोटा भी हो जाता है और बड़ा भी हो जाता है। काल सिकुड जाता है सापेक्षता से। काल पीछे सरकता है और छलांग भी भरता है। काल का प्रतिक्रमण भी होता है और अतिक्रमण भी होता है। यह सारा सापेक्षता के आधार पर होता है। इसलिए सारे निर्णय सापेक्ष होते है। जहा सापेक्षता की विस्मृति होती है वहा तनाव पैदा होता है।

काल, स्वभाव, नियति, कर्म—ये सारे तत्त्व स्वतन्त्रता को सीमित करते है, परतंत्रता को बढाते है। आदमी काल से, स्वभाव से, नियति से और कर्म से बंधा हुआ है। बंधन के कारण वह पूर्ण स्वतंत्र नही है। वह परतन्त्र है पर पूरा परतंत्र भी नही है। यदि वह पूरा परतंत्र होता तो उसका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता। उसका मनुष्यत्व ही समाप्त हो जाता। और चेतना का अस्तित्व ही नष्ट हो जाता। चेतना रहती ही नही। उसका अपना कुछ रहता नही। वह कठपुतली बन जाता। कठपुतली पूर्णतः परतन्त्र होती है। उसे जैसे नचाया जाता है वैसे नाचती है। कठपुतली नचाने वाले के इशारे पर चलती है। उसका अपना कोई अस्तित्व या कर्तृत्व नही है, चेतना नही है। जिसकी अपनी चेतना नही होती वह परतन्त्र हो सकता है, पर [illegible]

परतन्त्र तो वह भी नही होता ।

प्राणी चेतनावान् है । उसकी अपनी चेतना है । जहा चेतना का अस्तित्व है वहां पूरी परतंत्रता की बात नही होती । दूसरी बात है—काल, कर्म आदि जितने भी तत्त्व है वे भी सीमित शक्ति वाले है । दुनियां मे असीम शक्तिसंपन्न कोई नही है । सबमे शक्ति है और उस शक्ति की अपनी मर्यादा है । काल, स्वभाव नियति और कर्म—ये शक्ति-सपन्न है, पर इनकी शक्ति अमर्यादित नही है । लोगो ने मान रखा है कि कर्म सर्वशक्तिसंपन्न है । सब कुछ उससे होता है । यह भ्रान्ति है । यह टूटनी चाहिए । सब कुछ कर्म से नहीं होता । यदि सब कुछ कर्म से ही होता तो मोक्ष होता ही नही । आदमी कभी मुक्त नही हो पाता । चेतना का अस्तित्व ही नही होता । कर्म की अपनी एक सीमा है । वह उसी सीमा में अपना फल देता है, विपाक देता है । वह शक्ति की मर्यादा में ही काम करता है ।

व्यक्ति अच्छा या बुरा कर्म अर्जित करता है । वह फल देता है, पर कब देता है, उस पर भी बधन है । उसकी मर्यादा है, सीमा है । मुक्तभाव से वह फल नहीं देता । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये उसकी सीमाएं है । प्रत्येक कर्म का विपाक होता है । माना जाता है कि दर्शनावरणीय कर्म का विपाक होता है तब नीद आती है । मैं आपसे पूछना चाहता हूं, अभी आपको नीद नही आ रही है । आप दत्तचित्त होकर प्रवचन सुन रहे है तो क्या दर्शनावरणीय कर्म का उदय या विपाक समाप्त हो गया ? दिन मे नीद नही आती तो क्या दिन मे दर्शनावरणीय कर्म का उदय समाप्त हो गया ? रात को सोने का समय है । उस समय नीद आने लगती है, पहले नही आती । तो क्या दर्शनावरणीय कर्म का उदय समाप्त हो गया ? कर्म विद्यमान है, चालू है, पर विपाक देता है द्रव्य के साथ, काल और क्षेत्र के साथ । एक क्षेत्र मे नीद बहुत आती है और दूसरे क्षेत्र मे नीद नही आती । एक काल में नीद बहुत सताती है और दूसरे काल मे गायब हो जाती है । क्षेत्र और काल—दोनो निमित्त बनते है कर्म के विपाक में । बेचारे नारकीय जीवों को नीद कभी आती ही नहीं । कहां से आएगी । वे इतनी सघन पीडा भोगते है कि नीद हराम हो जाती है । तो क्या यह मान ले कि नारकीय जीवों में दर्शनावरणीय कर्म समाप्त हो गया ? नही, उनमे दर्शनावरणीय कर्म का अस्तित्व है, पर क्षेत्र या वेदना का ऐसा प्रभाव है कि नीद आती ही नही । प्रत्येक कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, जन्म आदि-आदि परिस्थितियो के साथ अपना विपाक देता है । ये सारी कर्म की सीमाएं है । कर्म सव कुछ नही करता । जब व्यक्ति जागरूक होता है तब किया हुआ कर्म भी टूटता-सा लगता है । कर्म में कितना परिवर्तन होता है, इसको समझना चाहिए । भगवान् महावीर ने कर्म का जो दर्शन दिया, उसे सही नही समझा गया, कम

समझा गया। अन्यथा कर्मवाद के विषय मे इतनी गलत मान्यताएं नही होती। आज भारतीय मानस में कर्मवाद और भाग्यवाद की इतनी भ्रान्तपूर्ण मान्यताएं घर कर गई है कि आदमी उन मान्यताओ के कारण वीमारी भी भुगतता है, कठिनाइयां भी भुगतता है और गरीवी भी भुगतता है। गरीव आदमी यही सोचता है कि भाग्य मे ऐसा ही लिखा है, अत. ऐसे ही जीना है। वीमार आदमी भी यही सोचता है कि भाग्य मे वीमारी का लेख लिखा हुआ है, अतः रुग्णावस्था मे ही जीना है। वह हर कार्य मे कर्म का वहाना लेता है और दुःख भोगता जाता है। आज उसकी आदत ही वन गई है कि वह प्रत्येक कार्य मे वहाना ढूढता है।

एक न्यायाधीश के सामने एक मामला आया। लडने वाले थे पति और पत्नी। पत्नी ने शिकायत की कि मेरे पति ने मेरा हाथ तोड डाला। जज ने पति से पूछा—क्या तुमने हाथ तोडा है? उसने कहा—हा! मैं शराव पीता हू। गुस्सा आ गया और मैंने पत्नी का हाथ तोड डाला।" जज ने सोचा—घरेलू मामला है। पति को समझाया, मारपीट न करने की वात कही और केश समाप्त कर दिया।

कुछ दिन वीते। उसी जज के समक्ष वे दोनो—पति-पत्नी पुनः उपस्थित हुए। पत्नी ने शिकायत के स्वर में कहा—'इन्होने मेरा दूसरा हाथ भी तोड़ डाला है।' "जज ने पति से पूछा, उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए कहा—'जज महोदय! मुझे शराव पीने की आदत है। एक दिन मैं शराव पीकर घर आया। मुझे देखते ही पत्नी वोली—शरावी आ गया। शराव की भांति मैं उस गाली को भी पी गया।' इतने मे ही पत्नी फिर वोली—'न्यायाधीश भी निरा मूर्ख है, आज ये कारावास मे होते तो मेरा दूसरा हाथ नही टूटता।' जव पत्नी ने यह कहा तव मैं अपने आपे से वाहर हो गया। मैंने स्वयं का अपमान तो धैर्यपूर्वक सह लिया पर न्यायाधीश का अपमान नही सह सका और मैंने इसका हाथ तोड डाला। यह मैंने न्याया-धीश के सम्मान की रक्षा के लिए किया था। मैं अपराधी नही हू।'

आदमी को वहाना चाहिए। वहाने के आधार पर वह अपनी कमजो-रियां छुपाता है। और इस प्रक्रिया से अनेक समस्याएं खडी होती हैं। यदि आदमी साफ होता, वहानावाजी से मुक्त होता तो समस्याए इतनी नही होतीं।

कर्म और भाग्य का वहाना भी वडा वहाना वन गया है। इनके सहारे अनेक समस्याएं उभर रही हैं। इन समस्याओ का परिणाम आदमी को स्वयं भुगतना पड रहा है। वह परिणामो को भोगता जा रहा है। जव दृष्टिकोण, मान्यताए और धारणाए गलत होती है तव उनके परिणामो से वचाने वाला कोई नही होता।

'सब कुछ कर्म ही करता है'—यह अत्यन्त भ्रान्त धारणा है। आदमी ने सापेक्षता को विस्मृत कर दिया। सब कुछ कर्म से नहीं होता।

काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत [हमारा क्या हुआ] और पुरुषार्थ—ये पांच तत्त्व है। इन्हें समवाय कहा जाता है। ये पांचों सापेक्ष है। यदि किसी एक को प्रधानता देंगे तो समस्याएं खड़ी हो जाएंगी। काल प्रकृति का एक तत्त्व है। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव अपना-अपना होता है। नियति सार्वभौम नियम है, जागतिक नियम है। यह सब पर समान रूप से लागू होता है। व्यक्ति स्वयं कुछ करता है। मनसा, वाचा, कर्मणा, जाने-अनजाने, स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्ति के द्वारा जो किया जाता है, वह सारा का सारा अंकित होता है। जो पुराकृत—किया गया है, उसका अंकन और प्रतिबिम्ब होता है। प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया भी होती है। क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धात कर्म की क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धांत है। करो, उसकी प्रतिक्रिया होगी। गहरे कुएं में बोलेंगे तो उसकी प्रतिध्वनि अवश्य होगी। ध्वनि की प्रतिध्वनि होती है। बिम्ब का प्रतिबिम्ब होता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। यह सिद्धान्त है दुनिया का। प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्ति का परिणाम होता है और उसकी प्रवृत्ति होती है। कर्म अपना किया हुआ होता है। कर्म का कर्त्ता स्वयं व्यक्ति है और परिणाम उसकी कृति है, यह प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है। इसलिए इसे कहा जाता है—पुराकृत। इसका अर्थ है—पहले किया हुआ। पांचवां तत्त्व है—पुरुषार्थ। कर्म और पुरुषार्थ—दो नहीं, एक ही है। एक ही तत्त्व के दो नाम है। इनमें अन्तर इतना-सा है कि वर्तमान का पुरुषार्थ 'पुरुषार्थ' कहलाता है और अतीत का पुरुषार्थ 'कर्म' कहलाता है। कर्म पुरुषार्थ के द्वारा ही किया जाता है, कर्तृत्व के द्वारा ही किया जाता है। आदमी पुरुषार्थ करता है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण पुरुषार्थ कहलाता है और उस क्षण के बीत जाने पर वही पुरुपार्थ कर्म नाम से अभिहित होता है।

ये पांच तत्त्व है। पांचो सापेक्ष है। सर्व शक्तिमान् एक भी नहीं है। सब की शक्तियां सीमित है, सापेक्ष है। इसी आधार पर हम कह सकते है कि हम स्वतन्त्र भी है और परतंत्र भी है।

दूसरा प्रश्न है—उत्तरदायी कौन ? काल, स्वभाव, नियति और कर्म—ये सब हमें प्रभावित करते है, पर चारों उत्तरदायी नही है। उत्तरदायी है व्यक्ति का अपना पुरुपार्थ, अपना कर्तृत्व। आदमी किसी भी व्यवहार या आचारण के दायित्व से छूट नही सकता। यह बहाना नही बनाया जा सकता कि 'योग ऐसा ही था, कर्म था, नियति और स्वभाव था, इसलिए ऐसा घटित हो गया।' ऐसा सोचना या बहाना करना गलत होगा। अपने उत्तरदायित्व को हमे स्वीकारना होगा। हमे यह कहना होगा कि अपने आचरण और

व्यवहार का सारा उत्तरदायित्व हम पर है। 'उत्तरदायी कौन' की मीमांसा में मैंने पहले कहा था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्र के व्यक्ति भिन्न-भिन्न तत्त्वों को उत्तरदायी बताते हैं। मनोवैज्ञानिक, रासायनिक, शरीरशास्त्री और कर्मवादी अपने-अपने दर्शन के अनुसार पृथक्-पृथक् तत्त्वों को उत्तरदायी कहते हैं। पर ये सब उत्तर सापेक्ष हैं। शरीर में उत्पन्न होने वाले रसायन हमें प्रभावित करते हैं, नाड़ी-संस्थान हमें प्रभावित करता है, वातावरण और परिस्थिति हमें प्रभावित करती हैं। ये सब प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं, पर उत्तरदायित्व किसी एक का नहीं है। किसका होगा? ये सब अचेतन हैं। कर्म अचेतन है, पदार्थ का स्वभाव अचेतन है, नियति और कर्म अचेतन है। हमारा ग्रन्थितंत्र और नाड़ीतंत्र भी अचेतन है। परिस्थिति और वातावरण भी अचेतन है। पूरा का पूरा तंत्र अचेतन है, फिर उत्तरदायित्व कौन स्वीकारेगा? अचेतन कभी उत्तरदायी नहीं हो सकता। उसमें उत्तरदायित्व का बोध नहीं होता। वह दायित्व का निर्वाह भी नहीं करता। दायित्व का प्रश्न चेतना से जुड़ा हुआ है। चेतना के संदर्भ में ही उस पर मीमांसा की जा सकती है। जहां ज्ञान होता है वहां उत्तरदायित्व का प्रश्न आता है। जब सब अंधे ही अंधे हैं, वहां दायित्व किसका होगा? अंधों के साम्राज्य में दायित्व किसका? सब पागल ही पागल हों तो दायित्व कौन लेगा? पागलों के साम्राज्य में जो पागल नहीं होता, उसे भी पागल बन जाना पड़ता है। यदि वह पागल नहीं बनता है तो सुख से जी नहीं सकता। दायित्व की बात केवल चेतना जगत् में आती है। जहां चेतना का विवेक और बोध है और दायित्व-निर्वाह की क्षमता है। हमारा पुरुषार्थ चेतना से जुड़ा हुआ है। पुरुषार्थ चेतना से निकलने वाली वे रश्मियां हैं जिनके साथ दायित्व का बोध और दायित्व का निर्वाह जुड़ा हुआ है।

हमारा पुरुषार्थ उत्तरदायी होता है। इसको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। हमें अत्यन्त ऋजुता के साथ अपने व्यवहार और आचरण का दायित्व ओढ़ लेना चाहिए। उसमें कोई झिझक नहीं होनी चाहिए। जब तक हम अपने आचरण और व्यवहार के उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करेंगे तब तक उनमें परिष्कार भी नहीं कर सकेंगे।

है कि आदमी कर्म से बंधा हुआ है। अतीत से बंधा हुआ है। महावीर ने कहा—'किया हुआ कर्म भुगतना पड़ेगा।' यह सामान्य सिद्धांत है। इसके कुछ अपवाद-सूत्र भी है। कर्मवाद के प्रसंग में भगवान् महावीर ने उदीरणा, संक्रमण, उद्वर्तन और अपवर्तन के सूत्र भी दिए। उन्होंने कहा—'कर्म को बदला जा सकता है, कर्म को तोड़ा जा सकता है, कर्म को पहले भी किया जा सकता है, कर्म को बाद मे भी किया जा सकता है। यदि पुरुषार्थ सक्रिय हो, जागृत हो तो हम जैसा चाहें वैसे रूप मे कर्म को वदल सकते हैं।' संक्रमण का सिद्धांत कर्मवाद की बहुत वड़ी वैज्ञानिक देन है। मैंने इस पर जैसे-जैसे चितन किया, मुझे प्रतीत हुआ कि आधुनिक 'जीन विज्ञान' की जो नई वैज्ञानिक धारणाएं और मान्यताएं आ रही है, वे इसी संक्रमण सिद्धान्त की उपजीवी है। आज के वैज्ञानिक इस प्रयत्न मे लगे हुए है कि 'जीन' को यदि बदला जा सके तो पूरी पीढ़ी का कायाकल्प हो सकता है। यदि ऐसा कोई टेक्निक प्राप्त हो जाए, कोई सूत्र हस्तगस्त हो जाए, जिससे 'जीन' मे परिवर्तन लाया जा सके तो अकल्पित क्राति घटित हो सकती है। यह 'जीन' व्यक्तित्व निर्माण का घटक तत्त्व है।

संक्रमण का सिद्धांत जीन को वदलने का सिद्धान्त है। संक्रमण से जीन को बदला जा सकता है। कर्म परमाणुओ को बदला जा सकता है। बड़ा आश्चर्य हुआ जब एक दिन हमने इस सूत्र को समझा। बड़े-बड़े तत्वज्ञ मुनि भी इस सिद्धांत को आश्चर्य से देखने लगे। एक घटना याद आती है। मैं अपनी पहली पुस्तक 'जीव-अजीव' लिख रहा था। उस समय हमारे सघ के मुनि रंगलालजी (वाद मे वे संघ से पृथक् हो गए) उनके सामने मेरी पुस्तक का एक अंश आया। उसमे चर्चा थी कि पाप को पुण्य में बदला जा सकता है और पुण्य को पाप में बदला जा सकता है। मुनि रंगलालजी ने कहा—'यह नही हो सकता। इस पर पुनर्श्चितन करना चाहिए मैंने सोचा—आगम के विशेष अध्येता मुनि ऐसा कह रहे है, मुझे पुनः सोचना चाहिए। मैने उन मुनि से कहा—'क्या यह सम्भव नही है कि किसी ने पाप कर्म का वंध किया, किन्तु वाद मे वही व्यक्ति अच्छा पुरुषार्थ करता है तो क्या, जो कुफल देने वाला है, वह पुण्य के रूप में नही बदल जाएगा ? इसी प्रकार एक व्यक्ति ने पुण्य कर्म का वंध किया, किन्तु वाद मे इतने वुरे कर्म किए, वुरा आचरण और व्यवहार किया, तो क्या वे पुण्य के परमाणु पाप के रूप मे नही वदल जाएंगे ? उन्होने कहा—'ऐसा तो हो सकता है। मैंने कहा—यही तो मैंने लिखा है। यही तो संक्रमण का सिद्धान्त है।'

एक कथा के माध्यम से यह वात और स्पष्टता से समझ मे आ जाती है—

दो भाई थे। एक वार दोनों एक ज्योतिषी के पास गए। वड़े भाई

ने अपने भविष्य के वारे में पूछा। ज्योतिषी ने कहा—'तुम्हे कुछ ही दिनों के पश्चात् सूली पर लटकना पड़ेगा। तुम्हे सूली की सजा मिलेगी।' छोटे भाई ने भी अपना भविष्य जानना चाहा। ज्योतिषी वोला—'तुम भाग्यवान् हो। तुम्हे कुछ ही समय पश्चात् राज्य मिलेगा, तुम राजा वनोगे।' दोनो आश्चर्य-चकित रह गए। कहां राज्य और कहां सूली की सजा? असंभव-सा था। दोनो घर आ गए। वड़े भाई ने सोचा—ज्योतिषी ने कहा है, संभव है वह वात मिल जाए। अव मुझे संभल कर कार्य करना चाहिए।' वह जागरूक और अप्रमत्त वन गया। उसका व्यवहार और आचरण सुधर गया। उसे मौत सामने दीख रही थी। जव मौत सामने लगती है तव हर आदमी वदल जाता है। वडे-से-वडा नास्तिक भी मरते-मरते आस्तिक वन जाता है। ऐसे नास्तिक देखे है जो जीवनभर नास्तिकता की दुहाई देते रहे, पर जीवन के अन्तिम क्षणों मे पूर्ण आस्तिक वन गए। वडे भाई का दृष्टिकोण वदल गया, आचरण और व्यवहार वदल गया और उसके व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो गया।

छोटे भाई ने सोचा—राज्य मिलने वाला है, अव चिन्ता ही क्या है? वह प्रमादी वन गया। उसका अहं उभर गया। अव वह आदमी को कुछ भी नही समझने लगा। एक-एक कर अनेक वुराइयां उसमे आ गई। भविष्य में मदिरा प्राप्त होने वाली राज्यसत्ता के लोभ ने उसे अंधा वना डाला। सत्ता का मादकपन अनूठा होता है। उसकी स्मृति मात्र आदमी को पागल वना देती है। वह सत्ता के मद में मदोन्मत्त हो गया। वह इतना वुरा व्यहार और आचरण करने लगा कि जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती।

कुछ दिन वीते। वडा भाई कही जा रहा था। उसके पैर मे सूल चुभी और वह उसके दर्द को कुछ दिनो तक भोगता रहा। छोटा भाई एक अटवी से गुजर रहा था। उसकी दृष्टि एक स्थान पर टिकी। उसने उस स्थान को खोदा और वहां गडी मोहरो की थैली निकाल ली।

चार महीने वीत गए। दोनो पुनः ज्योतिषी के पास गए। दोनो ने कहा—'ज्योतिषीजी! आपकी दोनों वाते नही मिली। न सूली की सजा ही मिली और न राज्य ही मिला।' ज्योतिषी पहुंचा हुआ था। वडा निमित्तज्ञ था। उसने वडे भाई की ओर मुड़कर कहा—'मेरी वात असत्य हो नही सकती। तुमने अच्छा आचरण किया। अन्यथा तुम पकडे जाते और तुम्हें सूली की सजा मिलती। पर वह सूली की सजा सूल मे टल गई। वताओ, तुम्हारे पैर मे सूल चुभी या नही?' छोटे भाई से कहा—तुम्हें राज्य प्राप्त होने वाला था। पर तुम प्रमत्त वने, वुरा आचरण करने लगे। तुम्हारा राज्य-लाभ मोहरो मे टल गया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि संचित पुण्य वुरे पुरुषार्थ से पाप में वदल जाते हैं और संचित पाप अच्छे पुरुषार्थ से पुण्य में वदल जाते है। यह स्पष्ट

होता है, किया जाता है।

मुनिजी को फिर मैने कहा—यह जैन दर्शन का मान्य सिद्धांत है और मैंने इसी का 'जीव-अजीव' पुस्तक मे विमर्श किया है। स्थानांग सूत्र मे चतुर्भगी मिलती है—

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहां—
सुभे नाम मेगे सुभविवागे,
सुभे नाम मेगे असुभविवागे,
असुभे नाम मेगे सुभविवागे,
असुभे नाम मेगे असुभविवागे। (ठाणं ४।६०३)

एक होता है शुभ, पर उसका विपाक होता है अशुभ। दूसरे शब्दो मे बन्धा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका विपाक होता है पाप। बन्धा हुआ है पाप कर्म, पर उसका विपाक होता है पुण्य। कितनी विचित्र बात है। यह सारा संक्रमण का सिद्धात है। शेष दो विकल्प सामान्य है। जो अशुभ रूप में बंधा है, उसका विपाक अशुभ होता है और जो शुभ रूप मे बन्धा है, उसका विपाक शुभ होता है। इन दो विकल्पों मे कोई विमर्शणीय तत्त्व नही है, किन्तु दूसरा और तीसरा—ये दोनो विकल्प महत्वपूर्ण है और संक्रमण के सिद्धांत के प्ररूपक है। संक्रमण का सिद्धात पुरुषार्थ का सिद्धांत है। ऐसा पुरुषार्थ होता है अशुभ शुभ में और शुभ अशुभ में बदल जाता है।

इस सदर्भ मे हम पुरुषार्थ का मूल्यांकन करे और फिर सोचे कि दायित्व और कर्तृत्व किसका है ? हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेगे कि सारा दायित्व और कर्तृत्व है पुरुषार्थ का। अच्छा पुरुषार्थ कर आदमी अपने भाग्य को बदल सकता है। अनेक बार निमित्तज्ञ बताते है—भाई ! तुम्हारा भाग्य अच्छा है, पर अच्छा कुछ भी नही होता। क्योकि वे अपने भाग्य का ठीक निर्माण नही करते, पुरुषार्थ का ठीक उपयोग नही करते। पुरुषार्थ का उचित उपयोग न कर सकने के कारण अच्छा कुछ भी नही हुआ और बेचारा झूठा हो गया, उसकी भविष्यवाणी असत्य हो गई।

ज्योतिषी ने किसी को कहा कि तुम्हारा भविष्य खराब है। उस व्यक्ति ने उसी दिन से अच्छा पुरुषार्थ करना प्रारम्भ कर दिया और उसका भविष्य अच्छा हो गया।।

सुकरात के सामने एक व्यक्ति आकर बोला—'मैं तुम्हारी जन्म-कुडली देखना चाहता हूं।' सुकरात बोला—अरे ! जन्मा तब जो जन्मकुडली बनी थी, उसे मैं गलत कर चुका हूं। मैं उसे बदल चुका हूं। अब तुम उसे क्या देखोगे ?

पुरुषार्थ के द्वारा व्यक्ति अपनी जन्म-कुडली को भी बदल देता है। ग्रहो के फल-परिणामों को भी बदल देता है, भाग्य को बदल देता है। इस

दृष्टि से मनुष्य का ही कर्तृत्व है, उत्तरदायित्व है। महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धांत पर वल दिया, पर एकांगी दृष्टिकोण की स्थापना नही की। उन्होने सभी तत्त्वो के समवेत कर्तृत्व को स्वीकार किया, पर उत्तरदायित्व किसी एक तत्त्व का नही माना।

भगवान् महावीर के समय की घटना है। शकडाल नियतिवादी था। भगवान् महावीर उसके घर ठहरे। उसने कहा—'भगवन्! सब कुछ नियति से होता है! नियति ही परम तत्त्व है?' भगवान् महावीर बोले-'शकडाल! तुम घडे वनाते हो। वहुत वडा व्यवसाय है तुम्हारा। तुम कल्पना करो. तुम्हारे आवे से अभी-अभी पककर पाच सौ घडे वाहर निकाले गए है। वे पड़े है। एक आदमी लाठी लेकर आता है और सभी घडो को फोड देता है। इस स्थिति मे तुम क्या करोगे?'

शकडाल वोला—'मै उस आदमी को पकड कर मारूंगा, पीटूगा।

महावीर वोले—'क्यो?'

शकडाल ने कहा—'उसने मेरे घड़े फोडे है, इसलिए वह अपराधी है।'

महावीर वोले—'वड़े आश्चर्य की वात है। सब कुछ नियति करवाती है। वह आदमी नियति से वन्धा हुआ था। नियति ने ही घड़े फुडवाए है। उस आदमी का इसमे दोप ही क्या है?'

यह चर्चा आगे वढती है और अत मे शकडाल अपने नियति के सिद्धात को आगे नही खीच पाता, वह निरुत्तर हो जाता है।

पुरुपार्थ का अपना दायित्व है। कोई भी आदमी यह कहकर नही वच सकता कि मेरी ऐसी ही नियति थी। हमें सचाई का, यथार्थता का अनुभव करना होगा।

इस चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अप्रमाद वटे और प्रमाद घटे, जागरूकता वढ़े और मूर्च्छा घटे। पुरुपार्थ का उपयोग सही दिशा मे वढ़े और गलत दिशा मे जाने वाला पुरुपार्थ टूटे। हम अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करें।

५
प्रतिक्रमण

हमारा शरीर अनेक नियमों से बधा हुआ है और अनेक रहस्यो से भरा हुआ है। इस शरीर में अनगिन रहस्य है। उनको जानना है। हमारी यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर हो। हमे स्थूल से यात्रा करनी है और पहुंचना है सूक्ष्म तक। हमें चलते चलना है। जो स्थूल में अटक जाता है, वह भटक जाता है। वह कही का नहीं रहता। आज आदमी की दृष्टि स्थूल को पकडने वाली बनी हुई है। वह स्थूल को देख लेता है, सूक्ष्म उसकी पकड़ में नही आता। इसका कारण है कि वह सूक्ष्म तक जाने का अभ्यास नही करता, प्रयोग नही करता।

मैं स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा पर आपको ले चलता हूं। यह शरीर स्थूल है। यह सूक्ष्म कोशिकाओं—बायोलोजिकल सेल्स—से निर्मित है। लगभग ६०-७० खरब कोशिकाएं है। हम इन्हें जैन दर्शन के इस प्रतिपादन के संदर्भ मे समझे कि सूई की नोक टिके उतने से स्थान में निगोद के अनन्त जीव समा सकते है। निगोद वनस्पति का एक विभाग है। यह सूक्ष्म रहस्य-पूर्ण बात है। पर आज का विज्ञान भी अनेक सूक्ष्मताओं का प्रतिपादन करता है। शरीर में खरबों कोशिकाएं है। उन कोशिकाओं मे होते है गुणसूत्र। प्रत्येक गुणसूत्र दस हजार 'जीन' से बनता है। वे सारे संस्कार-सूत्र है। हमारे शरीर मे छयालीस क्रोमोसोम होते है। वे बनते है जीन से, संस्कार-सूत्रों से। संस्कार-सूत्रों से एक क्रोमोसोम बनता है। संस्कार सूत्र सूक्ष्म है, जीन सूक्ष्म है।

आज का शरीरविज्ञान मानता है कि शरीर का महत्त्वपूर्ण घटक है—'जीन'। यह संस्कार-सूत्र है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। प्रत्येक 'जीन' में साठ लाख आदेश लिखे हुए होते है। कल्पना करें इस सूक्ष्मता की। व्यक्ति क्या करेगा? उसकी शक्ति, पुरुपार्थ, कर्तृत्व, चेतना कितनी है? एक-एक जीन में साठ-साठ लाख आदेश अंकित है। तव प्रश्न होता है कि हमारा कर्तृत्व, हमारा पुरुषार्थ और हमारी चेतना कहां है? क्या वह एक क्रोमोसोम और 'जीन' में नहीं है क्या? इसीलिए तो इतनी तरतमता है एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में। सवका पुरुपार्थ समान नही होता, सवकी चेतना समान नही होती, इस असमानता का कारण प्राचीन भापा मे, कर्मशास्त्र की भापा में 'कर्म' है।

एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भंते ! विश्व मे सर्वत्र तरतमता दिखाई देती है। किसी में ज्ञान कम होता है और किसी मे अधिक। इसका कारण क्या है ? भगवान् बोले—गौतम ! इस तरतमता का कारण है 'कर्म'।

यदि आज के जीवविज्ञानी से पूछा जाए कि विश्व की विषमता या तरतमता का कारण क्या है, तो वह कहेगा कि सारी तरतमता का एक-मात्र कारण है—'जीन'।

जैसा 'जीन' होता है, गुणसूत्र होता है, आदमी वैसा ही बन जाता है। उसका स्वभाव और व्यवहार वैसा ही हो जाता है। यह 'जीन' सभी संस्कार-सूत्रों तथा सारे विभेदो का मूल कारण है। विज्ञान की भाषा मे कहा जाता है कि एक एक 'जीन' पर साठ-साठ हजार आदेश लिखे हुए होते है तो कर्मशास्त्र की भाषा मे कहा जा सकता है कि कर्म-स्कन्ध मे अनन्त आदेश लिखे हुए होते है। अभी तक विज्ञान 'जीन' तक ही पहुंच पाया है और यह 'जीन' इस स्थूल शरीर का ही घटक है, किन्तु कर्म सूक्ष्मशरीर का घटक है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस शरीर है, विद्युत् शरीर है। वह सूक्ष्म है। इससे भी सूक्ष्म शरीर है कर्मशरीर। यह सूक्ष्मतम है। इसके एक-एक स्कन्ध पर अनन्त-अनन्त लिपिया लिखी हुई है। हमारे पुरुषार्थ का, अच्छाइयो और बुराइयो का, न्यूनताओं और विशेषताओ का सारा लेखा-जोखा और सारी प्रतिक्रियाएं कर्मशरीर मे अकित है। वहा से जैसे स्पन्दन आते है, आदमी वैसा ही व्यवहार करने लग जाता है। हमारा पुरुषार्थ इसके साथ जुडा हुआ होता है। कर्म ही सब कुछ नही है। कर्तृत्व और पुरुषार्थ भीतर से आ रहा है, भीतर मे प्रतिष्ठित है। किन्तु उसका मूल अवस्था न 'जीन' है और न कर्मशरीर है। ये तो बीच के माध्यम है जो अपना-अपना कार्य करते है। मूल शक्ति का स्रोत है आत्मा। सारी शक्ति वहां से आती है। ये बीच के स्रोत केवल तारतम्य पैदा करने वाले होते है। शक्ति के मूल स्रोत नही है। पुरुषार्थ, कर्तृत्व, वीर्य, अन्तःस्फुरणाएं—ये सारे आत्मा से आ रहे है। हमें वहा तक पहुचना है।

मैं एक सीधा-सा प्रश्न उपस्थित करता हू। प्रत्येक भारतीय दर्शन तथा कर्म मे विश्वास करने वाला व्यक्ति चिन्तन करे। कर्म एक माध्यम है जो प्रत्येक प्राणी को प्रभावित करता है, पर वही सब कुछ नही है। यदि कर्म ही सब कुछ हो तो आदमी कोई त्याग कर ही नही सकता। कोई भी कर्म ऐसा नही है जो त्याग करा सके, त्याग के लिए प्रेरित कर सके। कर्म का कार्य है व्यक्ति को भोग की ओर ले जाना। त्याग की ओर ले जाना कर्म का कार्य नही है। वेदनीय कर्म, नामकर्म, आयुष्य कर्म, गोत्र कर्म—ये चारों पौद्गलिक संयोग कराने वाले कर्म है। ज्ञानावरण कर्म और दर्शनावरण

कर्म—ये दोनों ज्ञान और दर्शन को आवृत करने वाले कर्म है। मोहनीय कर्म मूर्च्छा पैदा करने वाला कर्म है। अन्तराय कर्म शक्ति मे बाधा उत्पन्न करने वाला कर्म है। ये आठ कर्म है। इनमे से एक कर्म भी ऐसा नही है जो त्याग की ओर ले जा सके। फिर भी भोग में आकठ डूबा हुआ व्यक्ति, पदार्थों मे आसक्त रहने वाला व्यक्ति, त्याग की ओर क्यो जाता है ? क्यो उसके मन मे त्याग की भावना जागती है ? इसका कारण क्या है ? कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। कारण पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि केवल कर्म ही नही है। हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति है, चेतना है, जो निरन्तर संघर्षरत है और जो मनुष्य को शुद्ध चेतना की अवस्था तक ले जाना चाहती है। वह स्वबोध की अवस्था है, आत्मा के सहज स्वरूप की अवस्था है, सहज आनन्द की अवस्था है। उस ओर जाने की सहज प्रेरणा है हमारी। यदि यह सहज प्रेरणा नही होती तो आदमी विषयों में इतना आसक्त हो जाता कि वह त्याग की बात कभी सोच ही नही पाता, परमार्थ की ओर कभी डग भर ही नही पाता। स्वार्थ और परार्थ मे वह केवल स्वार्थ की बात ही सोचता, परार्थ की ओर ध्यान ही नही देता। वह फिर घर-गृहस्थी के धधो मे इतना उलझ जाता कि उसके बाहर कभी दृष्टि ही नही डाल पाता। उठते-बैठते, सोते-जागते वह उसी मे उलझा रहता।

एक व्यापारी था। वह व्यापार मे आकठ डूबा हुआ था। सोते-जागते केवल व्यापार के ही स्वप्न देखता था। एक रात वह सो रहा था। सपना आया। ग्राहक ने कपड़ा मागा। उसने कपड़ा देने की धुन मे अपनी ओढी हुई चादर फाड डाली। पत्नी जाग गई और उसे चादर फाड़ते देख लिया। उसने कहा—अरे, यह क्या कर रहे हो ? चादर क्यो फाड रहे हो ? वह बोला—कमबख्त ! घर पर तो पीछा नही छोडती, दूकान पर भी आ धमकी !

आदमी इतना आसक्त हो जाता है कि वह त्याग की बात सोच ही नही सकता। एक ओर भोग है, एक ओर त्याग है। भोग प्रिय होता है त्याग प्रिय नही होता। फिर भी भोगो को त्यागने की भावना आती है। ऐसा क्यो होता है ? भोग आपात-भद्र होते है और परिणाम-विरस, किन्तु त्याग आपात-विरस होते है और परिणाम-भद्र होते है। पदार्थ की प्रकृति है कि वह प्रारभ मे प्रिय लगता है, पर बाद मे अप्रिय बन जाता है। जैसे-जैसे पदार्थ का सेवन बढता है, वैसे-वैसे अप्रियता भी बढती है। भोग मे रहा हुआ आदमी भोग मे रहता है। उसके पीछे कर्म की प्रेरणा है। कर्म ही उसे भोग मे बनाए रखते है। कर्म अचेतन है। अचेतन की प्रेरणा अचेतन की ओर ले जाती है। कर्म की प्रेरणा मे प्रेरित व्यक्ति भोग मे आसक्त हो सकता है, भोग-परतन्त्र हो सकता है। यह बात समझ मे आ सकती है, पर भोग मे रहने वाला आदमी त्याग की ओर जाता है, यह किसकी प्रेरणा है ? कोई

भी कर्म ऐसा नही है जो इस ओर जाने की प्रेरणा दे। इस प्रेरणा के साथ कर्म का कोई संबंध नही है। इस प्रेरणा का मूल घटक है आत्मा। हमारे भीतर चेतना की एक शुद्ध धारा बहती है, निरन्तर बहती है। एक क्षण भी ऐसा नही आता कि वह चैतन्य की धारा रुक जाए, चेतना लुप्त हो जाए। यदि चेतना लुप्त हो जाती है तो सारी बात समाप्त हो जाती है, चेतन अचेतन बन जाता है। पर ऐसा कभी होता नही। चेतना की ज्योति कम से कम हो, पर वह निरन्तर जलती रहती है।

रूस के एक जीव वैज्ञानिक प्रो० तारासोव ने लिखा है—हमारा प्रत्येक सेल एक टिमटिमाता दीपक है। वह ऐसा दीपक है, जो निरन्तर जलता रहता है। प्रत्येक कोशिका अपने आप मे एक पावरहाउस है। हम कह सकते है कि आत्मा का प्रत्येक प्रदेश ज्योतिर्मय है। प्रत्येक आत्मा मे अन्तर्ज्योति जलती रहती है। वह ज्योति कभी नही बुझती। वह निरतर प्रज्वलित रहती है। उसी का प्रकाश हमें त्याग की प्रेरणा देता है, त्याग की ओर ले जाता है। कर्म त्याग की ओर नही ले जाता। त्याग, संयम सवर—ये किसी धर्म से नही होते। ये मात्र चेतना की प्रेरणा से होते है। ये स्वतत्र है।

हम स्वतन्त्र भी है और परतत्र भी है। हमारी चेतना हमे त्याग की ओर ले जाती है, इसलिए हम स्वतत्र है। हमारा कर्तृत्व स्वतत्र है। जहा चेतना का प्रश्न है वहा हम स्वतत्र है और जहा कर्म का प्रश्न है, वहा हम परतत्र है। इस दृष्टि से हमारा दायित्व भी सापेक्ष होगा। जहा हम चेतना के साथ होते है वहां हम स्वतंत्र है और जहा हम दूसरे के साथ होते है, वहा हम परतत्र है। जब हम काल या नियति के प्रभाव मे होते है, वहा हम परतत्र बन जाते है। हमारी स्वतत्रता और परतत्रता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि हम किसके साथ होते है। जब हम चेतना के साथ होते है, अस्तित्व के साथ होते है तब हम पूर्ण स्वतंत्र होते है और जब हम कषाय के साथ होते है, नियति के साथ होते तब हमारी स्वतत्रता छिन जाती है। प्रश्न है कि स्वतत्रता का विकास कैसे हो सकता है? परतत्रता को कैसे कम किया जा सकता है? आदमी किस प्रकार अपने दायित्व का अनुभव कर सकता है और कैसे अधिक से अधिक स्वतंत्र होकर परतत्रता की बेड़ियो को काट सकता है? इस प्रश्न का उत्तर पाना है।

है। क्या वह अपने पैरो को केवल आगे ही बढाता है ? नही। एक पैर आगे बढता है और दूसरा पैर पीछे रहता है। विलौने की भी यही पद्धति है। एक हाथ आगे बढता है तब दूसरा हाथ पीछे रहता है और जब वह आगे आता है तब आगे वाला पीछे आ जाता है। यदि आगे-पीछे का यह क्रम न हो तो बिलौना हो नही सकता। हमे भी आगे बढ़ने के साथ पीछे भी लौटना होगा। प्रतिक्रमण का अर्थ ही है—पीछे लौट आना, वापस आ जाना।

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त का महत्त्व समझे। दोनो महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मनोविज्ञान ने इनको और अधिक उजागर किया है। मानसिक रोगी जब मनश्चिकित्सक के पास जाता है तब सबसे पहले उसे प्रतिक्रमण कराया जाता है। मनोरोगी से चिकित्सक कहता है, वर्तमान को भूलकर अतीत मे चले जाओ। मुझे अतीत के जीवन के बारे मे बताओ। मुझे बताओ की अतीत मे क्या-क्या घटा ? तुमने क्या-क्या किया ? वह प्रारम्भ से सारी बाते सुनता है। घटनाए सुनता है और मनोग्रन्थि के तथ्य को पकड़ लेता है। जब तक यह प्रतिक्रमण नही होता तब तक मनश्चिकित्सक चिकित्सा नही कर सकता। यह अध्यात्म साधना की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जब तक साधक की मनोग्रन्थि नही खुलती तब तक ध्यान नही होता। इसलिए अतीत का लेखा-जोखा करना बहुत जरूरी है।

आज का आदमी अकालमृत्यु से मर रहा है। सौ मे से पाच-चार व्यक्तियो के अतिरिक्त सभी मनुष्य स्वाभाविक मौत से नही मरते, अकालमृत्यु से मरते है। इसका कारण है—आहार का असंयम, कामवासना का असयम और आवेश या उत्तेजना। ये तीन कारण है। जिसमें कषाय का तीव्र आवेश होता है, वह जल्दी मरता है। जो कामवासना से पीड़ित होता है, वह अकाल-मौत मरता है। जिसमें आहार का सयम नही होता, वह भी पूरा जीवन नही जी सकता। इन विषयों में आदमी भ्रान्त है, भूले करता है, क्योंकि उसे न आहार सबधी शिक्षा मिलती है, न ब्रह्मचर्य के विषय में शिक्षा मिलती है और न कषाय-विजय का ही पाठ पढाया जाता है। जब ये शिक्षाएं नही मिलती, तब आदमी धर्म कैसे कर सकता है ? धर्म केवल आकाशीय तत्त्व नही है, यह जीवन का घटक है। जो आहार का संयम करना नही जानता वह क्या धर्म कर पाएगा ? जो व्यक्ति डटकर खाता है, वह बुरे विचारो से ग्रस्त होता है, वासना उभरती है, पेट भारी होता है, अपानवायु दूपित हो जाता है, तब चिन्तन स्वस्थ कैसे रह सकता है ? फिर धर्म कहां से आएगा ?

जिस व्यक्ति में आहार का संयम नही है, कामवासना का सयम नही है और आवेश का संयम नही है, वह पूरा जीवन नही जी सकता, वह सुखी और अच्छा जीवन नही जी सकता। मैं समझता हूं कि इन तीनो तथ्यो का प्रारम्भ मे ही प्रशिक्षण होना चाहिए । ये तीनो तथ्य जीवन से सम्वन्धित हैं

और इनकी अजानकारी के कारण बचपन से ही अनेक भ्रान्तिया व्यक्ति के दिमाग मे घर कर जाती है और-और बाते पढ़ाई जाती है, बताई जाती है, पर ये बातें न अध्यापक बताते है, न धर्मगुरु बताते है और न माता-पिता बताते है। इन तथ्यों के अजानकारी के कारण जीवन मे अनेक बुराइया पनपती है। इसीलिए न शरीर स्वस्थ रहता है और न मन स्वस्थ रहता है। स्मृति क्षीण हो जाती है, बुद्धि कमजोर और कल्पनाशक्ति मन्द हो जाती है। इस स्थिति मे यह आवश्यक है कि प्रतिक्रमण किया जाए।

प्रायश्चित्त मनोग्रन्थियों को खोलने का उपाय है। जो मनोग्रन्थियां अज्ञान के कारण बन गई है, उनके खुलने पर सारा मार्ग साफ हो जाता है। प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति न केवल आध्यात्मिक दोषो से बचता है, पर वह मानसिक और शारीरिक बीमारियों से भी बच जाता है। जो लोग प्रायश्चित्त करते है, वे भयंकर से भयंकर बीमारी से मुक्त हो जाते है। केन्सर, अल्सर, हार्टट्रबल—ये केवल शरीर के रोग नहीं है, ये मनोकायिक रोग है। ये मन से, भावना से, इमोसन और आवेगो से होने वाले रोग है। आवेग करते समय ऐसा भान नही होता कि रोग होगा। पर रोग होता है, पीड़ा देता है, तब पता चलता है कि रोग हुआ है प्रायश्चित्त के द्वारा इनकी चिकित्सा हो सकती है।

इससे पहले अतिक्रमण का प्रतिक्रमण होना चाहिए। जो-जो अतिक्रमण हुआ है उसका प्रतिक्रमण होता है। प्रतिक्रमण रूढ़ी नही है। यह है अतीत का सिंहावलोकन, अतीत को देखना, समझना, प्रेक्षा करना कि कहां-कहां, कब-कब अतिक्रमण हुआ है और अब कैसे बचा जा सकता है।

जिस व्यक्ति मे प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त की चेतना जाग जाती है वह व्यक्ति बहुत शक्तिशाली और पुरुषार्थ-प्रधान बन जाता है।

स्थूलभद्र नन्दवंश के प्रधानमंत्री शकडाल का पुत्र था। वह प्रारम्भ से ही विरक्ति का जीवन जी रहा था। पिता ने देखा। उसने सोचा—क्या मेरा पुत्र संन्यासी बनेगा? इतनी विरक्ति कैसे है? इसे गृहस्थी मे फंसाना है। इसे कामशास्त्र का अध्ययन कराना चाहिए। उसे कोशा वेश्या के घर पर रखा। वह बारह वर्ष तक उसके घर पर रहा। फिर ऐसी घटना घटी कि वह मुनि बन गया। गुरु के चार शिष्यो मे वह एक था। एक बार चारों शिष्य गुरु के समक्ष आए और प्रार्थना की कि हम विशेष साधना के लिए भिन्न-भिन्न स्थानो मे चतुर्मास करना चाहते है। एक ने कहा कि मैं सिंह की गुफा मे चतुर्मास बिताना चाहता हू। दूसरे ने कहा कि मैं कुएं की मेड पर चतुर्मास बिताना चाहता हू। तीसरे ने कहा—मैं सांप की बिंबी पर चतुर्मास करना चाहता हू। स्थूलभद्र ने कहा—मैं कोशा वेश्या की चित्रशाला मे चतुर्मास बिताना चाहता हू। विचित्र था निवेदन। गुरु ने स्वीकृति दे दी। स्थूल-

भद्र कोशा के भवन-द्वार पर पहुचा। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई चिर परिचित स्थूलभद्र को देखकर। स्थूलभद्र ने कहा—सुन्दरी ! मैं तुम्हारी चित्रशाला मे चतुर्मास करना चाहता हू—

'यह चित्रशाला विशाल मदनालयसी मलयाचलसी,
मै चाहता हूं करना निवास
जब तक पूर्ण न हो चार मास
कार्तिक पूर्णिमा तक
हेमन्त तरुणिमा तक,
आज्ञा हो तुम्हारी।'

कोशा बोली—'आज्ञा लेते है आप ! आप ही की चित्रशाला है। कौन होती हू मै आज्ञा देने वाली ? आप चतुर्मास करे।'

स्थूलभद्र वहा रह गए। सुपरिचित वेश्या कोशा जिसके साथ बारह वर्ष विताए थे। वही चित्रशाला जो प्रत्येक के मन में कामवासना जगाने में समर्थ थी। पूरा वातावरण कामुकता को बढाने वाला था। स्थूलभद्र वहा रहे। तपस्या नही की। षड्रस भोजन करते रहे। कोशा ने कहा—कहा फंस गए आप। संन्यास क्यो ले लिया ? छोड दें इसे। मेरे घर पर जीवन भर रहे। मै आपकी हू। इतना सब कुछ होने पर भी स्थूलभद्र निर्लिप्त रहे। चार मास पूरे हुए। काजल की कोठरी मे रहे। पर काजल की एक रेखा भी नही लगी। सूरज बादल की ओट मे छिपा था। बादल फटे और सूरज प्रगट हो गया।

स्थूलभद्र का यह उदाहरण सर्व सामान्य नही है, अतिरिक्त है। पर आदमी ऐसा कर सकता है। उन्होने प्रतिक्रमण के माध्यम से ऐसा किया। प्रतिक्रमण की चेतना जगाने पर सब विकार ममाप्त हो जाते है।

दो बड़े सूत्र है। एक है अतिक्रमण को बदलने के लिए प्रतिक्रमण की चेतना का जागरण और दूसरा है अतीत की ग्रन्थियों को खोलने के लिए प्रायश्चित्त।

विज्ञान के क्षेत्र मे सोचा जा रहा है कि 'जीन' को बदलने का सूत्र हस्तगत हो जाए तो पूरे व्यक्तित्व को बदला जा सकता है। अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत पहले सोचा गया था कि कर्म को बदलने का सूत्र हाथ लग जाए तो बहुत बडा काम हो सकता है। मै समझता हूं, भाव इतना शक्तिशाली साधन है कि उससे कर्म को बदला जा सकता है, जीन को बदला जा सकता है। जो व्यक्ति अनुप्रेक्षा का प्रयोग करना जानता है, जिसने भाव-परिवर्तन का प्रयोग किया है, वह अपने 'जीन्स' को भी बदल सकता है और कर्म को भी बदल सकता है। यह बदलने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के माध्यम से समूची चेतना का रूपान्तरण किया जा सकता है और चेतना को नए रूप में प्रस्थापित किया जा सकता है।

६

वर्तमान की पकड़

हमने 'अतीत से बंधा वर्तमान' और 'अतीत से मुक्त वर्तमान'—इन दोनो की चर्चा की। क्या अतीत की पकड से मुक्त हुआ जा सकता है? उससे मुक्त होने का उपाय क्या है? हमे उपाय की खोज करनी है। जो उपाय को नही जान सकता, वह अपाय को नही मिटा सकता। अपाय का अर्थ है—विघ्न। आदमी अपाय को छोडना चाहता है। उपाय के विना अपाय का निरसन नही किया जा सकता। प्रत्येक अपाय को मिटाने के लिए उपाय अपेक्षित होता है। वह आचार्य सफल आचार्य होता है जो उपाय को जानता है। वह गुरु सफल गुरु होता है जो उपाय को जानता है। जो उपाय को नही जानता वह यथार्थ मे न आचार्य होता है और न गुरु होता है। वह न डॉक्टर होता है और न वैद्य। वह न अनुशास्ता हो सकता है और न नेतृत्व करने वाला नेता। उपाय का ज्ञान अपेक्षित होता है। जो उपायो को जितना सूक्ष्मता से जानता है, वह उतना ही सफल हो सकता है। डाक्टर के पास रोग का उपाय न हो तो रोगी निराश हो जाता है। गुरु के पास उपाय न हो तो शिष्य निराश हो जाता है। शिष्य गुरु के पास आकर पूछता है—'क्रोध, अहंकार और कामवासना सताती है। इनसे बचने का उपाय बताए।' यदि आचार्य कहे कि मैं इनसे छुटकारा पाने का उपाय नहीं जानता तो वास्तव मे वह आचार्य नही हो सकता। आचार्य का काम है उपाय को जानना। जितने अपाय है उन सबका उपाय जानना और समाधान देना। उपायो को जानने वाला ही वास्तव मे समाधान दे पाता है और शिष्य की अस्वस्थ मनोवृत्ति को स्वस्थ बना सकता है।

व्यक्ति को उपाय-कुशल होना चाहिए। उपाय-कुशल वह होता है जो उपाय को जानता है और उसके प्रयोग मे कुशल होता है। उपाय को जानना ही पर्याप्त नही माना जा सकता। उसका प्रयोग ही वांछित फल ला [illegible] है। आज के दार्शनिको की यही हालत है कि वे दर्शन को जानते हैं पर उनका प्रायोगिक पक्ष अत्यन्त दुर्बल है। इसीलिए आज के दार्शनिक क्षेत्र में [illegible] [illegible] की [illegible] का विस्तार हुआ है। [illegible] [illegible] [illegible] होता है जिसके प्रयोग की बात अधिक होती है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं होती, व्यावहारिक नहीं होती। दर्शन [illegible] [illegible] है [illegible]

जिया जा सके, जीवन मे उतारा जा सके, वर्तमान मे उसका प्रयोग हो सके। वह दर्शन किस काम का जो मरने के वाद काम आए। वैसा दर्शन हमे अधिक प्रभावित नही कर सकता। वही दर्शन हमे प्रभावित कर सकता है जो जीते जी हमारे काम आता है।

अपाय को निरस्त करने के लिए तीन वाते आवश्यक है—उपाय की खोज, उपाय की पूरी जानकारी, उपाय को प्रयुक्त करने की कुशलता।

अपाय को मिटाने के अनेक उपाय है। उनमें एक है—वर्तमान की पकड़। अतीत से मुक्त होने का एक उपाय है—वर्तमान की पकड़। हम वर्तमान को जितना पकड़ पाएगे, अतीत के प्रभावों से उतने ही मुक्त होते चले जाएंगे। अतीत की काली छाया हर व्यक्ति पर है। जैसे शरीर की छाया हमारे साथ-साथ चलती है, वैसे ही अतीत की छाया भी हमारे साथ-साथ चल रही है। हम शरीर की छाया को देख पाते है पर अतीत की छाया को नही देख पाते। फिर भी वह हमारे साथ निरन्तर बनी रहती है। उस छाया से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है वर्तमान की पकड़।

वर्तमान पर आज के आदमी की पकड़ नही है। आदमी वर्तमान में जीता है, श्वास लेता है, वर्तमान मे रहता है, हर काम वर्तमान मे करता है, फिर भी वास्तव मे वह वर्तमान मे नही जीता। वह वर्तमान मे जीना जानता ही नही। जो व्यक्ति प्रमत्त होता है, वह वर्तमान मे नही जीता। जो व्यक्ति अप्रमाद मे रहता है, जागरूक रहता है, वही वर्तमान मे जीता है। आप अपने जीवन का लेखा-जोखा करे। कम से कम एक दिन का, प्रात.काल उठते है तब से लेकर सोते है तब तक का पूरा लेखा-जोखा रखे। उठते ही पहले क्षण मे जो विचार आए, उन्हे नोट करे और फिर पूरे दिन मे क्या-क्या सोचा, क्या क्या किया, इसको नोट करे। फिर उनको देखें, पता चलेगा कि आपने अतीत का जीवन कितना जीया और वर्तमान का जीवन कितना जीया। यह भी ज्ञात हो जाएगा कि भविष्य का जीवन कितना जीया और वर्तमान का जीवन कितना जीया। यदि आकड़े निकाले जाए तो वह निश्चित रूप से ज्ञात हो जाएगा कि आदमी मुश्किल से घंटा, आधा घंटा वर्तमान का जीवन जीता है, शेष तेवीस घटे वह अतीत या भविष्य का जीवन मात्र जीता है। आदमी को एक ओर स्मृतिया घेरे हुए है और दूसरी ओर कल्पनाए घेरे हुए है। अतीत की स्मृतिया और भविष्य की कल्पनाएं—दोनों साथ-साथ चलती है। आदमी निरंतर स्मृतियो से घिरा रहता है। वह कुछ भी करे, स्मृतियो के घेरे को तोड नही पाता। इन स्मृतियो के सातत्य से वर्तमान खो जाता है, छूट जाता है। उसका कही पता ही नही चलता। कर्त्तव्य का भी पता नही चलता। आदमी सहसा कह देता है, भई ! मैं तो भूल गया। वह गलत प्रयोग है। आदमी भूलता कहां है। यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो पता

लगेगा कि आदमी भूलता नही, किन्तु दूसरी स्मृति उसे दवोच लेती है और पहली वात नीचे दव जाती है। आदमी भूलता नही, किन्तु दूसरी स्मृति के वशीभूत हो जाता है। यदि आदमी स्मृति-सयम का अभ्यास कर लेता है तो वह वर्तमान में जी सकता है। कल्पना का संयम करने पर वर्तमान मे जीया जा सकता है। जो वर्तमान मे जीना सीख लेता है, वह अनेक समस्याओ से वच जाता है।

शिविर मे भाग लेने वाले, ध्यान करने वाले कहते है—वड़ा आनन्द आता है। इस वात पर वे लोग विश्वास नही करते जो ध्यान नही करते। जीवन के पग-पग पर आनन्द है, पर वह स्मृतियो के वोझ से दवा रहता है, कल्पना के नीचे दवा रहता है। ध्यान-काल मे स्मृतियो और कल्पनाओ को उभरने का मौका नही मिलता। उसमे वर्तमान मे जीने का अवसर मिलता है, तव पता चलता है कि जिस आनन्द की खोज हम वाहर कर रहे थे, वह आनंद हमारे भीतर है। दो वाते है—एक है वाहर से आना और दूसरी है जो भीतर है उसका पता लग जाना।

'कस्तूरी मृग नाभि माहि, वन वन फिरत उदासी', 'पानी मे मीन पियासी'—ये उक्तियां इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि आनन्द भीतर पडा है, पर आदमी उसे जान नही पाता। कस्तूरी की सुगध आती है तो मृग उस सुगध मे क्षुब्ध होकर उसे खोजने इधर-उधर दौडता है। वह नही जानता कि कस्तूरी उसी की नाभि मे विद्यमान है। और उसी की गध आ रही है। उसी प्रकार आनन्द आदमी के घट मे भरा पडा है, पर वह उसे वाहर ही वाहर ढूढता है आनन्द भीतर है, किन्तु उस पर इतने आवरण आ गए, उस ज्योति पर इतनी राख आ गई कि ज्योति का कही पता ही नही चल पाता। ज्योति का प्रकाश नही है, वह राख से ढकी हुई है।

ध्यान का प्रयोग है उस राख को हटाने का प्रयोग। जव स्मृति और कल्पना का आवरण हट जाता है तव वास्तविकता उद्घाटित हो जाती है।

एक भक्त योगी के पास गया। उसने कहा—'महाराज! अव आप ही मुझे वचा सकते है। दर-दर भटका हूं। अन्तिम शरण मे आया हू। अत्यन्त दीन-हीन अवस्था मे जी रहा हू। वहुतो की शरण ली, पर सर्वत्र धोखा ही धोखा मिला। अव आपके पास आया हू। मेरी झोली भर दें।' संन्यासी पिघल गया। उसने कहा—'सामने जो थैला टंगा हुआ है, उसमे एक पत्थर है। वह ले जाओ, वेडा पार हो जाएगा।' भक्त उठा। उस पत्थर को निकाला। पूछा—'इस पत्थर का क्या करूगा।' सन्यासी वोला—'यह पत्थर नही है, पारसमणि है। इससे लोहा सोना वनता है।' भक्त ने पूछा—'कैसे?' सन्यासी ने उसी झोले मे से चिमटा निकाला, पारसमणि से छुआ, [illegible] सोने का हो गया। भक्त वोला—'यह धोखा है। [illegible]

करामात है। चिमटा और मणि—दोनों थैले में ही तो थे। इतने दिन तक यह सोने का क्यों नही हुआ। सन्यासी ने कहा—'भक्त ! तुम नही समझे। अभी तक पारसमणि एक कपड़े मे लपेटा हुआ था। उस पर कपड़े का आवरण था। वह हटा और लोहा सोना बन गया।

हमारे आनन्द पर भी दो मुख्य आवरण है। एक है कल्पना का आवरण और दूसरा है स्मृति का आवरण। ये दोनों आवरण जब हट जाते है तब आनन्द की अनुभूति होने लग जाती है। मै नहीं कहता कि कल्पना और स्मृति सर्वथा अनावश्यक है। इनका भी जीवन में उपयोग है। स्मृति के बिना जीवन-यात्रा नही चलती और कल्पना के बिना जीवन का विकास नही होता। सामाजिक जीवन को चलाने के लिए तथा उसको विकसित करने के लिए स्मृति और कल्पना आवश्यक है। जितनी आवश्यक है उतनी उपयोगी भी है। पर आज का आदमी अनावश्यक स्मृति और कल्पना मे अपना जीवन बिता रहा है। आवश्यक स्मृति और कल्पना का काल बहुत छोटा होता है। अनावश्यक स्मृति और कल्पना मे ही अधिक काल बीत रहा है। इसीलिए स्मृति की पकड छूट जाती है। जब वर्तमान की पकड मजबूत होती है तब अतीत और भविष्य की पकड ढीली हो जाती है। प्रेक्षा-ध्यान मे स्मृति और कल्पना का भी उपयोग है और वह काटे से कांटा निकालने के लिए। काटा चुभना एक बात है और उस काटे से दूसरा कांटा चुभा कर निकालना दूसरी बात है। चढ़ने की और उतरने की सीढियां दो नही होती, एक ही होती है। सीढियो में अन्तर नही होता, अन्तर होता है पैरो के स्नायुओं में। चढते समय पैरों के स्नायुओ की क्रिया एक प्रकार की होती है और उतरते समय दूसरे प्रकार की होती है। आरोहण और अवरोहण की क्रिया में अन्तर आ जाता है। क्या हसने की और रोने की आखे दो होती है ? नही, आदमी जिस आंख से हंसता है उसी आख से रोता है। पर क्रिया मे अन्तर आ जाता है। एक उलझाने वाली क्रिया होती है और एक सुलझाने वाली क्रिया होती है। एक स्मृति और कल्पना उलझा देती है, उन्हें दूसरी स्मृति और कल्पना सुलझा देती है। सुलझाने वाली स्मृति और कल्पना वर्तमान की ओर ले जाती है। स्मृति-सयम और कल्पना-संयम—दोनो साथ-साथ होने चाहिए। इसीलिए हमने प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा को जोडा है। इससे स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान हो सकता है।

ध्यान का प्रयोग है—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की प्रक्रिया का विकास अध्यात्म ने किया है तो विज्ञान ने भी किया है। वह निरंतर सूक्ष्म की ओर बढ़ने का प्रयास कर रहा है। यदि वह स्थूल मे ही अटक जाता तो वह निश्चित ही भटक जाता। उसका इतना विकास नहीं होता। हम इसे एक रोग के उदाहरण से समझें। प्राचीनकाल

मे हिस्टीरिया के रोग को भूतप्रेत का आवेश मान लिया जाता था। और इसके निवारण के लिए अनेक कठोर अमानवीय प्रयत्न किये जाते थे। जब चिन्तन का विकास हुआ, आदमी कुछ सूक्ष्मता मे गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह भूत-प्रेत की वीमारी नही है, यह शरीर की वीमारी है। खोज होती गई और आज यह माना जाने लगा है कि यह केवल शरीर की वीमारी नही है, मन और शरीर—साइकोसोमेटिक वीमारी है। शरीर मे हम दवाइया उंड़ेलते जा रहे है। वीमारी कही है और दवाई किसी को दी जा रही है। दागना था ऊंट को, पर उस तक हाथ नही पहुचा, इसलिए पास मे खड़े वैल को ही दाग दिया।

आज शरीर-विज्ञान और रोग-विज्ञान ने इस वात को स्पष्ट कर दिया है कि अधिकांश वीमारिया मानसिक होती है। वे शरीर मे अभिव्यक्त होती है, पर शरीर की वीमारियां नही है, मन की वीमारिया है। मै इससे आगे की वात कहता हू कि वीमारियो का मूल मन भी नही है। तीन शब्द है—व्याधि, आधि और उपाधि। शरीर की वीमारी को व्याधि और मन की वीमारी को आधि कहते है। इनसे भी आगे है—उपाधि। यह है भावना मे होने वाली वीमारी। हमारे भाव-संस्थान के चार घटक है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इस भाव-संस्थान मे सारी वीमारिया जनमती है। व्याधि और आधि से आगे उपाधि मे जाने पर ही वास्तविकता का सूत्र हस्तगत होगा। यह है स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान। यही है सचाई को जानने का रास्ता। जो स्थूल मे अटक जाते है, वे आगे नही वढ़ पाते। जो आगे से आगे खोज नही करते, परीक्षण नही करते वे कभी आगे नही वढ सकते।

ध्यान की प्रक्रिया खोज की प्रक्रिया है। व्यक्ति अपने आपको खोजता है, अपने भीतर मे जाता है, गहराइयो मे जाता है, परीक्षण करता है, निरीक्षण करता है और इस प्रक्रिया से वह सचाई तक पहुंच जाता है और तव विवेक जागृत हो जाता है।

प्रेक्षा का प्रयोजन है—विवेक। संश्लेष नही, विश्लेष। एकत्व नही, विवेचन।

जब तक विवेचन की शक्ति नही जागती, तब तक [illegible] नही होता। नमक भी सफेद होता है और कपूर भी सफेद होता है, पर दोनो का उपयोग भिन्न-भिन्न होता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—कुछ लोग जो सफेद और [illegible] होता है उसे दूध समझ लेते है। गाय का दूध, भैंस का दूध, [illegible] का दूध [illegible] आदमी को पर विवेक तो होना ही चाहिए कि कौन-सा दूध किस काम मे आ सकता है। यह विवेक की शक्ति होनी चाहिए।

[illegible] विवेक करना है कि चेतना क्या है, और [illegible] है? [illegible] चेतना से कर्म का विश्लेषण करना है, [illegible]

पृथक्करण करना है। विवेक की जागृति के पश्चात् हम जितना चेतना का अनुभव करेंगे, उतने ही वर्तमान में रहेगे। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि चेतना का अनुभव करना वर्तमान की पकड है। हम ऐसा भी कह सकते है कि वर्तमान की पकड़ का अर्थ होता है—चेतना का अनुभव।

चैतन्य का अनुभव करना, आत्मबोध करना, शुद्ध आत्मा का दर्शन करना—यह विवेकसूत्र यदि हस्तगत हो जाता है तो अनेक समस्याएं समाहित हो जाती है। आखों का काम है, जो भी सामने आए उसे देखना। पर देखने के पीछे निरन्तर हमारी दृष्टि यह रहे कि जिसे देख रहा हूं, वही शुद्ध आत्मा है। जब प्रत्येक व्यक्ति मे शुद्ध आत्मा के दर्शन की चेतना जाग जाती है, इसका अर्थ होता है कि व्यक्ति अनेक विकृतियों से छुटकारा पा लेता है। यह विवेक जागना चाहिए। विवेक-जागरण के बिना आदमी सारी स्थितियो को एक-सा मान लेता है और तब अनेक गड़बड़ियां हो जाती हैं।

एक व्यक्ति रेल में यात्रा कर रहा था। अचानक उसका अंगूठा दरवाजे के बीच आया और थोड़ा कट गया। वह जोर से चिल्ला उठा। पास मे बैठे एक व्यक्ति ने कहा—'अरे, अगूठा थोड़ा कटा और इतने जोर से चिल्ला उठे। अभी एक सप्ताह पहले एक व्यक्ति रेल के नीचे आकर कट गया। पर उसने चू तक नही किया, और तुम अंगूठा कट गया इसलिये चिल्ला रहे हो ?'

दोनों स्थितियो मे आकाश-पाताल का अन्तर है। पर विवेक के अभाव मे आदमी दोनों को एक मान लेता है। इसलिए विवेक-जागरण बहुत आवश्यक है।

७
परिवर्तन का सूत्र

कर्मवाद भारतीय दर्शन का महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। उस पर कई दिनो तक चर्चा हुई है। अव हम उसकी निष्पत्ति पर विचार करें कि कर्मवाद को जिस रूप मे समझा गया, क्या वह उचित है अथवा उसको किस रूप मे समझा जाना चाहिए ? ऐसा प्रतीत होता है कि कर्मवाद के विपय मे अनेक मिथ्या मान्यताएं चल पड़ी और उनके फलस्वरूप अनेक त्रुटिपूर्ण धारणाएं घर कर गईं।

यथार्थ मे कर्मवाद निराशा का सूत्र नही है। वह परिवर्तन का सूत्र है। मनुष्य को वदलना चाहिए। यदि वदलने की वात छूट जाती है तो आदमी भी गढा वन जाता है, वैसा गढा जिसमें पानी पडा रहता है और सडान पैदा कर देता है। नदी का प्रवाह वहता रहता है, पानी चलता रहता है, उसमे कभी सडान पैदा नही होती। जव पानी प्रवहमान न रहकर, गढे में गिर जाता है, ठहर जाता है, तव गदला हो जाता है, दुर्गन्धमय हो जाता है।

जीवन एक प्रवाह है। वह निरन्तर प्रवाहित रहता है तो निर्मल वना रहता है। जव वह रूढ़ हो जाता है, जव रूढिवादी परम्पराएं या मान्यताएं उसे जकड लेती है तव जीवन मे भी सडान पैदा हो जाती है। आज के सामाजिक और वैयक्तिक जीवन मे ऐसा प्रतीत होता है कि सड़ान पैदा हो गई है। इसका कारण है, हमने परिवर्तन के सूत्र को खो दिया या उसको दूसरे रूप में पकड लिया

जो व्यक्ति कर्मवाद को हृदयंगम कर लेता है, उसके मर्म को समझ लेता है, वह कही भी रूढ़िवादी नही हो सकता। वह बुराइयो से अपने आपको प्राय: वचा लेता है। कर्मवाद का एक सूत्र है—अच्छे कर्म का अच्छा फल और बुरे कर्म का बुरा फल। यह सूत्र हमारी नैतिक मान्यताओं तथा अव-धारणाओ का आधार वनता है। जव यह धारणा होती है कि बुरे कर्म का बुरा फल तो आदमी को बुराई से वचने का अवसर मिलता है। इस स्थिति मे कभी-कभी एक प्रश्न आता है कि भारत मे कोई कर्मवादी आदमी है ? क्या कर्मवाद को स्वीकार कर चलने वाला कोई है ? कर्मवाद को मौखिक रूप मे स्वीकार करने वाले मिलेंगे, पर कर्मवाद के मर्म को हृदयंगम कर चलने वाले, उसको जीवन मे अनुस्यूत कर चलने वाले लोग कम मिलेंगे। इस

तथ्य को स्वीकार करने वाला भ्रष्टाचार नही कर सकता। वह अनैतिक या अप्रामाणिक व्यवहार नही कर सकता। वह प्रलोभन मे आकर घी मे गाय की चर्बी मिलाने जैसा जघन्य अपराध नही कर सकता। सार्वजनिक संस्थाओ मे लाखों का दान देने वाले व्यक्तियो के घर पर जब घी मे मिलावट करने की चीजे मिलती है तब आश्चर्य होता है। क्या दान और जघन्यमय वृत्ति मे कही कोई सगति है ? कही संगति नही है। हमे मानना ही होगा कि कर्मवाद की मौखिक स्वीकृति एक बात है और उसका हृदयगम कर चलना दूसरी बात है। जिस व्यक्ति ने कर्मवाद को हृदय से स्वीकार किया है और इस बात को गहराई मे जाकर समझा है कि बुरे कर्म का फल बुरा होता है, वह ऐसा नही कर सकता, जघन्य अपराध नही कर सकता।

वास्तव मे देखा जाए तो कर्मवाद का सिद्धांत बुराई से बचने के लिए तथा नैतिक जीवन जीने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सिद्धात है। किन्तु आदमी ने इसे पराजयवादी मनोवृत्ति के साथ जोड़ दिया और कर्मवादी का अर्थ हो गया पराजयवादी मनोवृत्ति वाला। वह सोचने लग जाता है कि धर्म-कर्म करने वाले दुःख पाते है और बुराई करने वाले फलते-फूलते है। पराजय मान ली। धर्म को छोड़ दिया, धर्म से दूर हो गया। उसने पराजयवादी मनोवृत्ति निराशावादी मनोवृत्ति, पलायनवादी मनोवृत्ति स्वीकार कर ली। वास्तव मे कर्म पलायनवाद मनोवृत्ति का प्रेरक नही है। यह एक पुरुषार्थ से जुडी हुई प्रेरणा है। कर्म से पुरुषार्थ को कभी अलग नही किया जा सकता। दोनो जुडे हुए है। दोनो के साथ एक जुडी हुई प्रेरणा है, इसे हमे स्वीकार करना होगा। कभी-कभी समस्या के समाधान मे भी कर्मवाद का गलत प्रयोग कर लिया जाता है।

वह धर्म-दर्शन जीवन्त नही हो सकता जो वर्तमान की समस्या को समाधान न दे सके। उसकी प्रासंगिकता नही हो सकती। उसकी जीवन्तता नही हो सकती। वह मृत है, वह बुझी हुई ज्योति है। कोई कहे—मेरा दीया अतीत मे बहुत प्रकाश करता था, पर यदि यह आज के अंधकार को नही मिटा सकता तो उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। जो वर्तमान मे प्रकाश करता है, वर्तमान के अंधेरे को मिटाता है, वही दीया उपयोगी होता है। उसकी उपयोगिता को कोई नकार नही सकता। यदि वह प्रकाश देने मे असमर्थ है, अंधकार का भेदन करने मे असमर्थ है तो वह मात्र मिट्टी का वर्तन है, और कुछ नही। इसी प्रकार वही कार्य, वही धर्म, वही अध्यात्म, वही चेतना हमारे लिए कार्यकर होती है जो वर्तमान की समस्याओ का समाधान दे सके।

कर्मवाद वर्तमान की समस्या को समाहित करने मे समक्ष है। वह वाधा या विघ्न नही है। कभी-कभी यह प्रश्न आता है कि यदि पूरे विश्व मे

समाजवाद या साम्यवाद आ जाएगा और गरीवी मिट जाएगी तो क्या कर्म-वाद को धक्का नही लगेगा ? ऐसा लगता है, मानो कि गरीवी मिटी और कर्मवाद का महल ढह गया। ऐसा कोई संवध-सूत्र नही है कि कर्मवाद है तो गरीवी और अमीरी होनी चाहिए और यदि गरीवी नही रही तो कर्मवाद अर्थहीन हो गया। यह मिथ्या धारणा है। क्या संवंध है गरीवी-अमीरी का कर्मवाद के साथ ? संभव है भारतीय लोग इसीलिए चाहते है कि गरीवी और अमीरी दोनो वनी रहे, जिससे कि कर्मवाद को कोई आच न आए। यदि एक रहेगी तो कर्मवाद समाप्त हो जाएगा। ऐसा सवंध जोड दिया।

गांव मे वुढ़िया रहती थी। उसके पास एक मुर्गा था। वह वांग देता। लोग सूरज उगने की वात मान लेते। एक वार वुढिया नाराज हो गई। वह वोली गाव वालो से—तुम मुझे नाराज करते हो, पर याद रखना, मैं अपने मुर्गे को लेकर अन्यत्र चली जाऊंगी। मुर्गा नही होगा तो वाग नही देगा। वाग नही देगा तो सूरज नही उगेगा, सूरज नही उगेगा तो प्रकाश नही होगा, प्रभात नही होगा। उस वुढिया ने सारा सवध मुर्गे से जोड़ दिया। मेरा मुर्गा वाग देता है तभी तो प्रभात होती है।

इसी प्रकार आज आदमी ने यह जोड़ दिया है कि गरीवी नही रहेगी तो कर्मवाद कैसे टिकेगा ? अमीरी नही होगी तो कर्मवाद कहां टिकेगा ? तो क्या कर्मवाद का यह मतलव है कि आदमी को खाने को रोटी न मिले, पूरा कपडा न मिले, रहने के लिए स्थान न मिले ? क्या कर्मवाद का यही सार है ? यदि कर्मवाद का यही सार है तो कर्मवाद जितना नि.सार और वेकार कोई सिद्धात नही हो सकता। वास्तव मे हमने कर्मवाद के रहस्य को समझा नही। कर्मवाद की कोई वाधा नही है समस्या के समाधान मे। चाहे साम्यवाद आए या समाजवाद आए, कर्मवाद पर कोई आंच आने वाली नही है। जव तक व्यक्ति रहेगा, व्यक्ति का अच्छा-वुरा आचरण रहेगा, व्यक्ति का अच्छा-वुरा मनोभाव रहेगा, तव तक कर्मवाद को कोई आच आने वाली नही है और यदि सभी जीव मोक्ष चले जाएगे या मुक्त हो जाएगे तव फिर कर्मवाद टिकने वाला नही है। उस स्थिति मे कर्मवाद की जरूरत भी नही है। व्यक्ति जव तक जीएगा, धरती पर रहेगा, भावनाओ और व्यवहारो के साथ जीएगा तव तक कर्मवाद को कोई खतरा नही है।

आज मनुष्य ने अपने पुरुषार्थ के द्वारा अनेक प्रयत्न किए हैं। [illegible] था, जव आसाम मलेरिया से आक्रान्त था। आज मनुष्य [illegible] मलेरिया से मुक्त हो चुका है। इसी प्रकार मनुष्य ने [illegible] पर भी विजय पा ली है। [illegible] था। आज उन बीमारियों का [illegible] हो गया। [illegible] जाता। तव प्रश्न होता है कि कर्मवाद [illegible]

कर्मजन्य होती तो वे समाप्त कैसे होती ? पहले चेचक से न जाने कितने बच्चे मर जाते थे। आज वैसी स्थिति नही है। पहले आदमी कितना जल्दी बूढा हो जाता और मर जाता था, आज वैसा नही हो रहा है। आज मृत्यु-दर घटी है, आयु-दर बढी है। यदि कर्मवाद है तो इन सारी स्थितियों का सामाधान क्या है ?

इन सारी स्थितियो का कर्मवाद से कोई सबध नही है। कर्म मे ऐसी व्यवस्था नही होती कि अमुक को जल्दी मरना है, अमुक को भूखे मरना है, अमुक को बीमारिया भुगतनी है। कर्म का विपाक होता है देश, काल और परिस्थिति के अनुसार। इसे और स्पष्टता से समझे। सर्दी मे एक प्रकार की बीमारी होती है, गर्मी मे दूसरे प्रकार की बीमारी होती है और वर्षा ऋतु मे तीसरे प्रकार की बीमारी होती है। गर्मी मे लू लगती है, सदी मे लू नही लगती। कर्मवाद कहा चला गया ? इसका उत्तर है कि ये सब विपाक है देश-काल-सातेक्ष। ये सब परिस्थिति से जुडे हुए है। मनुष्य मे जितना अज्ञान होता है, उतनी ही बीमारियों को वह भुगतता है, बुराइयों को पालता है, बुराइयो के साथ जीता है। उसे जब समर्थसूत्र मिलता है तब ये सारी बुराइया छूट जाती है।

सम्राट् हेनरी चतुर्थ अनुभवी शासक था। उसने देखा कि इंगलेड के लोग जवाहरात और सोने का उपयोग बहुलता से करते है। उसे वह अच्छा नही लगा। आर्थिक स्थिति पर भी इसका प्रभाव उसे परिलक्षित हुआ। उसने कानून बनाया कि कोई भी व्यक्ति हीरे और स्वर्ण के आभूषण नही पहनेगा। कानून बन गया। लोगों ने कानून का हृदय से पालन नहीं किया। गहनो का प्रचलन चालू रहा। हेनरी के पास रिपोर्ट पहुंची। उसने सोचा और कानून मे एक पंक्ति और जोड़ दी—'आज से वेश्याए और जेबकतरे हीरों और सोने के आभूषण पहन सकेंगे, और कोई गहने नही पहन सकेगा। इस कानून का चमत्कार हुआ। दूसरे दिन सारे गहने उत्तर गए, क्योंकि कोई भी व्यक्ति वेश्या या जेबकतरा बनना नही चाहता था।

यह परिवर्तन कर्मवाद के आधार पर नही हुआ। यह हुआ समर्थ-सूत्र के आधार पर। यह हुआ व्यक्ति की सूझबूझ के आधार पर।

आज वैज्ञानिक युग है। आज का व्यक्ति चाहता है कि वैज्ञानिक मनोवृत्ति का विकास हो। प्रत्येक व्यक्ति हर बात को वैज्ञानिक दृष्टि से देख सके, परख सके। यह सद्यस्क अपेक्षा है। पर आज भी आदमी इतना रूढ और अज्ञानभरी धारणाओ से घिरा हुआ है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। आज दहेज की प्रथा चल रही है और महिलाएं स्वयं उसे पुरस्सर कर रही है। आश्चर्य तो यह होता है कि स्त्री की अवज्ञा स्वयं स्त्री करा रही है। बच्चा पैदा होता है तब सारे घर मे खुशियां मनाई जाती है, थाली बजाई

जाती है । जब लड़की पैदा होती है तब घर में उदासी छा जाती है और छाज पीटा जाता है । यह सब महिलाओ द्वारा संपन्न होता है । वे नही जानती कि वे स्वयं अपनी जाति की अवज्ञा कर रही है । स्त्री स्त्री की अवज्ञा कर रही है । नारी नारी की अवज्ञा करे, अपने सजातीय की अवज्ञा करे, इसमे बडा आश्चर्य क्या हो सकता है ? सास दहेज के प्रति जितनी जागरूक रहती है, उतना कोइ सदस्य नही रहता । स्त्री के द्वारा स्त्री की हत्या अथवा स्त्री के द्वारा स्त्री का अपमान इसीलिए होता है कि उसके साथ अज्ञान जुडा हुआ है ।

दो प्रकार की मनोवृत्तियां हैं । एक है मौलिक मनोवृत्ति और एक है अर्जित आदत । आदमी की मौलिक मनोवृत्ति को नही बदला जा सकता, पर अर्जित आदतो को बदला जा सकता है । मौलिक मनोवृत्तियो का रूपान्तरण भी किया जा सकता है, पर वह होता है कठोर साधना के पश्चात् । परन्तु अर्जित आदतो से, सरल-साधना के माध्यम से छुटकारा पाया जा सकता है । यदि अर्जित आदतो में परिवर्तन नही आता तब धर्म की आराधना और ध्यान की साधना करने का अर्थ शून्य हो जाता है । एक शिविरार्थी ने बताया कि ध्यान शिविर की साधना से उसकी ग्यारह अर्जित आदते छूट गई । यह ध्यान की एक निष्पत्ति है । ध्यान से होने वाला परिवर्तन आन्तरिक होता है, स्थायी होता है । ध्यान से भीतर का जागरण घटित होता है और जब आदमी भीतर मे जाग जाता है तब रूपान्तरण घटित होने लग जाता है ।

अम्म और निम्म पिता-पुत्र थे । वे उज्जयिनी के निवासी ब्राह्मण थे । पिता-पुत्र दोनो दीक्षित हो गए । पुत्र उच्छृंखलवृत्ति का था । वह किसी की बात नही मानता था । दूसरे मुनि उससे परेशान थे । आचार्य ने उनको गण से अलग कर दिया । वे दोनों दूसरे आचार्य के गण मे सम्मिलित हो गए । वहा भी पुत्र के व्यवहार से सारे ऊब गए । पर सर्वत्र तिरस्कृत हुए । तिरस्कार का एकमात्र कारण था पुत्र-मुनि का असद् व्यवहार । पिता दुखी था । वे गण से अलग होकर अन्यत्र जा रहे थे । विश्राम करने के लिए एक वृक्ष [illegible] नीचे ठहरे । अपनी दुर्दशा पर पिता की आखो मे आंसू आ गए । पुत्र ने देखा कि पिता की आखे सजल है और उनमे से तीव्र वेदना बाहर झांक रही है । पुत्र का हृदय बदल गया । उसने सोचा—मेरे कारण ही इनको [illegible] पड़ा । पुत्र के मन पर भारी असर हुआ । [illegible] वे पूर्ववर्ती सघ मे गए । आचार्य से निवेदन [illegible] गए । अब सघ के सारे सदस्य पिता-पुत्र [illegible] ।

प्रभावित हो जाता है कि उसका व्यवहार बदल जाता है। कोई एक वात इतनी चुभ जाती है कि उसका पूरा व्यक्तित्व ही वदल जाता है।

वदलने का सबसे अधिक शक्तिशाली माध्यम है—हृदय परिवर्तन, अन्त.करण का परिवर्तन या रासायनिक परिवर्तन या हृदय के परिवर्तन का अर्थ है—रसायनो का परिवर्तन। शरीर में पैदा होने वाले रसायनों की सख्या सैकडो में है। वे सारे रसायन विभिन्न प्रकार से व्यक्ति को प्रभावित करते है। उन रसायनो का बदल जाना ही वास्तव मे व्यक्ति का बदल जाना है। आज के मनोवैंज्ञानिक रासायनिक परिवर्तनो पर अनेक प्रयोग कर रहे है। रसायन के बदलने से शेर खरगोश का-सा व्यवहार करने लग जाता है और खरगोश शेर का व्यवहार करने लग जाता है। व्यवहार की दृष्टि से बिल्ली चूहा बन जाती है और चूहा बिल्ली बन जाता है। चिन्तन का प्रकार वदल जाता है। आचार-व्यवहार बदल जाता है। मै खोज रहा हूं कि ऐसा कोई सूत्र मिल जाए जिससे आदमी की लोभ की प्रवृत्ति में परिवर्तन आए और दहेज-प्रथा समाप्त हो जाए। यह परिवर्तन एक मे नही, सब में हो जाए। ऐसा होने पर समाज का कायाकल्प हो जाता है। रसायनो के परिवर्तन से क्रोध की आदत बदली जा सकती है, कामवासना की वृत्ति मे परिवर्तन आ सकता है। इन सबके सूत्र ज्ञात हुए है, हो रहे है, परन्तु अभी तक लोभ की वृत्ति को बदलने का सूत्र हस्तगत नही हुआ है। सामाजिक बुराइयो का सबसे बडा घटक है आर्थिक प्रलोभन। यह जटिल समस्या है। जिस दिन इस वृत्ति को बदलने का सूत्र ज्ञात हो जाएगा, प्राप्त हो जाएगा, उस दिन समाज से रूढिवाद का प्रभाव टूट जाएगा, अनेक रूढ़िया समाप्त हो जाएंगी। रूढ़ी तो एक बहाना मात्र है। उसकी पृष्ठभूमि मे लालच काम करता है, लोभ का चक्र चलता रहता है। आदमी में लोभ की वृत्ति इतनी तीव्र है कि वह सीधा धन पाना चाहता है।

पत्नी ने पति से कहा—'मैंने समाचार पत्र पढ़ा है कि एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी को साइकिल के बदले वेच डाला। आप तो ऐसा नही करेंगे ?' पति बोला—'मै इतना मूर्ख नही हू। यदि सौदा करूंगा तो कार का करूंगा। कार के वदले मे पत्नी को वेचना लाभप्रद होगा।'

कितना लोभ होता है आदमी मे। भयकर लोभ। यदि इस लोभ की वृत्ति को वदलने का सूत्र हस्तगत हो जाए तो फिर सामाजिक परिवर्तन सहज सरल हो जाएगा। हम इस सूत्र की खोज मे लगे हुए है और यह विश्वास है कि हमारा प्रयत्न अवश्य सफल होगा। ध्यान का सूत्र हमने खोजा और वह प्राप्त हो गया। यह धार्मिक क्षेत्र मे नई क्राति है।

प्रेक्षा-ध्यान के सूत्र की खोज का भी एक इतिहास है। आचार्यश्री का चातुर्मास था उदयपुर मे। यह वि० सं० २०१० की वात है। आगम-सपादन

कार्य चल रहा था। हम जो काम करते, प्रतिक्रमण के पश्चात् उन कार्य का लेखा-जोखा आचार्यप्रवर के समक्ष रख देते। यह प्रतिदिन का क्रम था। उन दिनो उत्तराध्ययन का सपादन-कार्य चल रहा था। उनके उनतीस अध्ययन संपन्न हो चुके थे। तीसवें अध्ययन पर कार्य हो रहा था। उसमे तपस्या का वर्णन है। उसके बहिरंग और अन्तरंग प्रकारो पर चर्चा चली। ध्यान तपस्या का अन्तरंग प्रकार है। मैंने निवेदन किया—ध्यान पर हम टिप्पणी लिख रहे है। बहुत सामग्री मिली है। खोज करने पर और भी सामग्री प्राप्त हो सकती है। आचार्यवर ने फरमाया—'ध्यान के विषय मे जब इतनी सामग्री उपलब्ध है तो जैन परम्परा मे विच्छिन्न ध्यान-प्रक्रिया का पुनः अनुसधान क्यो नही किया जाए? हमें इस दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए।'

इतना-सा संवाद चला। इतना-सा स्वप्न। आचार्यश्री की प्रेरणा ने काम किया। मैं उसकी खोज मे जुट गया। सूत्र मिला। प्रयोग प्रारम्भ किया और पन्द्रह वर्ष पश्चात् प्रेक्षा-ध्यान की पूरी प्रक्रिया सामने प्रस्तुत हो गई। प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया से धर्म-क्रान्ति की वात भी चरितार्थ हो गई और धर्म के विषय मे जो रूढ धारणाएं थी, उनमे परिवर्तन आ गया। एक युवक ने लिखा—धर्म और विज्ञान का इतना सुन्दर समन्वय हमने अन्यत्र नही देखा जैसा मुझे प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया मे दृष्टिगोचर हुआ।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग वैज्ञानिक धरातल पर आधृत है। उसमे अध्यात्म योग, कर्मवाद आदि प्राचीन विधाओ का समावेश है तो साथ ही साथ शरीरशास्त्र, शरीर-क्रियाशास्त्र, शरीर-रसायनशास्त्र, मानसशास्त्र आदि-आदि आधुनिक विधाओ का भी पूरा समावेश है। एक शब्द मे कहा जा सकता है कि यह धर्म और विज्ञान का सुन्दर समन्वय है।

आज यह सद्यस्क आवश्यकता है कि आज की समस्याओ से निपटने के लिए, समस्याओ का समाधान देने के लिए प्रत्येक विषय का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए और तर्क की कसौटी पर उसे पूरा कसा जाए। आज केवल अंधविश्वास, रूढी या मान्यता से काम नही चल सकता। आज जरूरी है परिवर्तन और उससे भी अधिक जरूरी है कर्मवाद के सिद्धान्त को हृदयंगम करना। कर्मवाद वैज्ञानिक सिद्धान्त है। परन्तु उसकी सही जानकारी न होने के कारण उसको भी रूढ मान्यता के आधार पर ही समझा जा रहा है। यदि कर्मवाद को सही रूप से समझा जाता तो [illegible] अनेक नई [illegible] सामने आ जाती।

प्रभावित हो जाता है कि उसका व्यवहार वदल जाता है। कोई एक वात इतनी चुभ जाती है कि उसका पूरा व्यक्तित्व ही वदल जाता है।

वदलने का सबसे अधिक शक्तिशाली माध्यम है—हृदय परिवर्तन, अन्तःकरण का परिवर्तन या रासायनिक परिवर्तन या हृदय के परिवर्तन का अर्थ है—रसायनो का परिवर्तन। शरीर में पैदा होने वाले रसायनों की सख्या सैकड़ो में है। वे सारे रसायन विभिन्न प्रकार से व्यक्ति को प्रभावित करते है। उन रसायनो का वदल जाना ही वास्तव मे व्यक्ति का वदल जाना है। आज के मनोवैज्ञानिक रासायनिक परिवर्तनो पर अनेक प्रयोग कर रहे है। रसायन के बदलने से शेर खरगोश का-सा व्यवहार करने लग जाता है और खरगोश शेर का व्यवहार करने लग जाता है। व्यवहार की दृष्टि से विल्ली चूहा बन जाती है और चूहा बिल्ली बन जाता है। चिन्तन का प्रकार वदल जाता है। आचार-व्यवहार बदल जाता है। मै खोज रहा हूं कि ऐसा कोई सूत्र मिल जाए जिससे आदमी की लोभ की प्रवृत्ति मे परिवर्तन आए और दहेज-प्रथा समाप्त हो जाए। यह परिवर्तन एक मे नही, सव मे हो जाए। ऐसा होने पर समाज का कायाकल्प हो जाता है। रसायनो के परिवर्तन से क्रोध की आदत वदली जा सकती है, कामवासना की वृत्ति मे परिवर्तन आ सकता है। इन सबके सूत्र ज्ञात हुए है, हो रहे है, परन्तु अभी तक लोभ की वृत्ति को बदलने का सूत्र हस्तगत नही हुआ है। सामाजिक बुराइयों का सवसे बडा घटक है आर्थिक प्रलोभन। यह जटिल समस्या है। जिस दिन इस वृत्ति को बदलने का सूत्र ज्ञात हो जाएगा, प्राप्त हो जाएगा, उस दिन समाज से रूढिवाद का प्रभाव टूट जाएगा, अनेक रूढ़ियां समाप्त हो जाएगी। रूढी तो एक वहाना मात्र है। उसकी पृष्ठभूमि मे लालच काम करता है, लोभ का चक्र चलता रहता है। आदमी मे लोभ की वृत्ति इतनी तीव्र है कि वह सीधा धन पाना चाहता है।

पत्नी ने पति से कहा—'मैंने समाचार पत्र पढा है कि एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी को साइकिल के वदले वेच डाला। आप तो ऐसा नही करेंगे ?' पति वोला—'मै इतना मूर्ख नही हू। यदि सौदा करूगा तो कार का करूगा। कार के वदले मे पत्नी को वेचना लाभप्रद होगा।'

कितना लोभ होता है आदमी मे। भयंकर लोभ। यदि इस लोभ की वृत्ति को वदलने का सूत्र हस्तगत हो जाए तो फिर सामाजिक परिवर्तन सहज सरल हो जाएगा। हम इस सूत्र की खोज मे लगे हुए है और यह विश्वास है कि हमारा प्रयत्न अवश्य सफल होगा। ध्यान का सूत्र हमने खोजा और वह प्राप्त हो गया। यह धार्मिक क्षेत्र मे नई क्रांति है।

प्रेक्षा-ध्यान के सूत्र की खोज का भी एक इतिहास है। आचार्यश्री का चातुर्मास था उदयपुर मे। यह वि० सं० २०१० की वात है। आगम-संपादन

कार्य चल रहा था। हम जो काम करते, प्रतिक्रमण के पश्चात् उस कार्य का लेखा-जोखा आचार्यप्रवर के समक्ष रख देते। यह प्रतिदिन का क्रम था। उन दिनो उत्तराध्ययन का सपादन-कार्य चल रहा था। उसके उनतीस अध्ययन सपन्न हो चुके थे। तीसवें अध्ययन पर कार्य हो रहा था। उसमें तपस्या का वर्णन है। उसके बहिरग और अन्तरग प्रकारो पर चर्चा चली। ध्यान तपस्या का अन्तरग प्रकार है। मैने निवेदन किया—ध्यान पर हम टिप्पणी लिख रहे है। वहुत सामग्री मिली है। खोज करने पर और भी सामग्री प्राप्त हो सकती है। आचार्यवर ने फरमाया—'ध्यान के विषय मे जब इतनी सामग्री उपलब्ध है तो जैन परम्परा मे विच्छिन्न ध्यान-प्रक्रिया का पुनः अनुसंधान क्यो नही किया जाए? हमे इस दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए।'

इतना-सा सवाद चला। इतना-सा स्वप्न। आचार्यश्री की प्रेरणा ने काम किया। मै उसकी खोज में जुट गया। सूत्र मिला। प्रयोग प्रारम्भ किया और पन्द्रह वर्ष पश्चात् प्रेक्षा-ध्यान की पूरी प्रक्रिया सामने प्रस्तुत हो गई। प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया से धर्म-क्रान्ति की बात भी चरितार्थ हो गई और धर्म के विषय मे जो रूढ धारणाएं थी, उनमे परिवर्तन आ गया। एक युवक ने लिखा—धर्म और विज्ञान का इतना सुन्दर समन्वय हमने अन्यत्र नही देखा जैसा मुझे प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया मे दृष्टिगोचर हुआ।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग वैज्ञानिक धरातल पर आधृत है। इसमे अध्यात्म योग, कर्मवाद आदि प्राचीन विधाओ का समावेश है तो साथ ही साथ शरीरशास्त्र, शरीर-क्रियाशास्त्र, शरीर-रसायनशास्त्र, मानसशास्त्र आदि-आदि आधुनिक विधाओ का भी पूरा समावेश है। एक शब्द मे कहा जा सकता है कि यह धर्म और विज्ञान का सुन्दर समन्वय है।

आज यह सद्यस्क आवश्यकता है कि आज की समस्याओ से निपटने के लिए, समस्याओ का समाधान देने के लिए प्रत्येक विषय का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाए और तर्क की कसौटी पर उसे पूरा कसा जाए। आज केवल अधविश्वास, रूढी या मान्यता से काम नही चल सकता। आज जरूरी है परिवर्तन और उससे भी अधिक जरूरी है कर्मवाद के सिद्धान्त को हृदयंगम करना। कर्मवाद वैज्ञानिक सिद्धान्त है। परन्तु उसकी सही जानकारी न होने के कारण उसको भी रूढ मान्यता के आधार पर ही समझा जा रहा है। यदि कर्मवाद को सही रूप मे समझा जाता तो आज अनेक नई धारणाए सामने आ जाती।

दिल्ली विश्वविद्यालय मे एक सगोष्ठी का आयोजन था। विषय था प्रेक्षा-ध्यान। वाइसचांसलर तथा अनेक प्रोफेसर, लेक्चरर इस गोष्ठी मे भाग ले रहे थे। मैंने प्रेक्षा-ध्यान की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए अनेक चर्चा-बिन्दु प्रस्तुत किए। अन्त मे वाइसचासलर ने आभार व्यक्त करते हुए

कहा—आज मै पहली बार किसी भारतीय दार्शनिक अथवा जैन मुनि के मुह से 'जीन' आदि के विषय मे इतनी प्रामाणिक चर्चा सुन रहा हू। जिस प्रकार की चर्चा मुनिजी ने प्रस्तुत की है, यदि इसको विस्तार दिया जाए, खोज की जाए तो भारत 'जीन' के विषय में पाश्चात्य देशो को नई देन दे सकता है। हमारे पास अतुल सामग्री है।

कर्मवाद का यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो 'जीन' की बात उसके समक्ष बहुत छोटी रह जाती है। पर आज का आदमी गहराई मे जाना नही चाहता। उसकी वृत्ति सिनेमावादी हो गई है। सीधा गाओ, सीधा देखो। गहरे मे उतरने की मनोवृत्ति बहुत कम है। कर्मवाद की आधारभूमि बहुत दृढ है। छोटी-मोटी बातो से उसको उखाडा नही जा सकता। यह वज्रमय प्रासाद, जो खडा किया गया है, वह पवन के झोको से ढह नही सकता। हमे गहराई मे जाने की आवश्यकता है। कर्मवाद परिवर्तन का महान्सूत्र है। उसका ठीक उपयोग करे। आदते बदलती है, व्यसन छूटते है, व्यक्तित्व बदलता है, इसमे कर्मवाद बाधा उपस्थित नही करता। ऐसा नही कहता कि कर्म मे ऐसा ही लिखा हुआ था, भाग्यरेखा ऐसी ही थी। जो आदमी ऐसा करता है, वह भयकर भूल करता है और जीवन के प्रति अन्याय करता है।

आदमी भगवान् के भरोसे बैठा रहता है, भाग्य के भरोसे बैठा रहता है। वह सब पर भरोसा करता है, पर अपने पुरुषार्थ पर भरोसा नही करता। भटक गया है आदमी। उसका पहला काम तो यह था कि वह अपने पुरुषार्थ पर पूरा भरोसा करे, फिर दूसरो पर भरोसा करे। दूसरो का भरोसा इतना लाभप्रद नही होता जितना लाभप्रद होता है अपने पुरुपार्थ का भरोसा।

कर्मवाद का सिद्धान्त प्रकाश-स्तम्भ है। यह पूरे मार्ग को प्रकाशित करता है। परन्तु आदमी की भ्राति के कारण, अज्ञान के कारण, उसने इस प्रकाश-स्तम्भ को भुला दिया, उसका पूरा मार्ग अधकारमय बन गया। प्रकाश अधकार मे परिणत हो गया।

कर्मवाद निराशा पैदा करने वाला सिद्धान्त नही है। यह पुरुषार्थ को उजागर करने वाला है। कर्मवाद के सही अर्थ को समझ कर आदमी अपने पुरुपार्थ को उत्तेजित करे और हाथ पर हाथ रखकर बैठने की वृत्ति को छोडे। न जाने कितने व्यक्ति निराश होकर पुरुपार्थ से प्राप्त होने वाली सपदा से वचित होकर बैठ जाते है। हम इस सचाई का अनुभव करे कि हमे प्रभावित करने वाले अनेक प्रभावो मे परिवर्तन लाने वाला प्रभाव है पुरुपार्थ और पुरुपार्थ मे परिवर्तन की प्रेरणा फूकने वाला है कर्मवाद। इस सचाई को हृदयगम करे और अपने पुरुपार्थ को आगे बढाए।

८

महान् आश्चर्य

दुनिया मे कुछ बड़े आश्चर्य माने जाते है, फिर भी यह प्रश्न आज भी पूछा जाता है कि सबसे बडा आश्चर्य क्या है ? इसका उत्तर अध्यात्म के सदर्भ मे दिया जा सकता है। सबसे बड़ा आश्चर्य है—अपने आपको नहीं जानना।

आदमी अपने आपको नही जानता, अपने आपको नही देखता। यह सबसे बड़ा आश्चर्य है। यह प्रश्न महाभारतकाल मे भी पूछा गया था—'किमाश्चर्यमत: परम् ।' दूसरो को जानने वाला आदमी जब अपने आपको नही जानता, दूसरो को देखने वाला आदमी जब स्वयं को नही देखता, क्या यह कम आश्चर्य है ? हजारो-हजारो मीलों की दूरी पर होने वाली घटनाओं और परिवर्तनो को जानने वाला आदमी अपने भीतर घटित होने वाली घटनाओ और परिवर्तनो को नही जानता, क्या यह कम आश्चर्य है ? बहुत बड़ा आश्चर्य है।

दूसरा प्रश्न है, संसार मे सबसे कठिन काम क्या है ? अनेक व्यक्ति सरल काम करने में विश्वास नही करते, कठिन काम करने मे अपनी बहादुरी समझते है और उस काम को निष्पन्न भी कर देते है। परन्तु दुनिया मे सबसे कठिन काम है—दिशा-परिवर्तन। दिशा को बदलना, बड़ा काम है। आदमी दिशा नही बदलता, दिशा वही की वही बनी रहती है। पर आदमी एक ही दिशा मे चलते-चलते थक जाता है, ऊब जाता है। किन्तु दिशा बदले बिना परिवर्तन घटित नही होता। जीवन की दिशा को बदलना, बड़ा काम है। यदि जीवन की दिशा बदल जाती है तो सब कुछ बदल जाता है। जीवन की दिशा बदलती है अपने आपको जानने और देखने से।

जब तक यह नही होता तब तक बुराइयो का चक्र चलता रहता है। वह कभी नही रुकता। आदमी बुराई करता है, पाप का आचरण करता है। पर प्रश्न होता है, वह पाप का आचरण क्यो करता है। यदि हम गहरे मे उतर कर देखे तो पता चलेगा कि इसका भी कारण है। आदमी अपने भीतर नही झाकता, अपने भीतर नही देखता। गीता मे एक सुन्दर प्रसंग उपस्थित किया गया है।

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा—

'अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय!, बलादिव नियोजितः ॥'

'भगवान् ! क्या कारण है कि मनुष्य पाप करता है ? कौन उसे पाप करने के लिए प्रेरित करता है ? कौन उसे पाप में लगा रहा है ?आदमी पाप नही करना चाहता। वह अच्छाई में रहना चाहता है, फिर भी उसे पाप मे उतरना पडता है। उसे जबरदस्ती पाप मे धकेला जाता है। कौन है ऐसा आदमी ? कौन है ऐसा तत्त्व ? कौन है ऐसी शक्ति, ऐसी माया जो आदमी को पाप मे धकेल देती है ? भगवन् ! मै यह जानना चाहता हूं।'

कृष्ण ने जो उत्तर दिया वह आज भी उतना ही मूल्यवान् है जितना वह उस समय मूल्यवान् था। उन्होने कहा—

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा, विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।'

अर्जुन ! आदमी को पाप मे धकेलने वाला वह शत्रु है—काम। वह शत्रु है क्रोध। ये तमोगुण से पैदा होते है। क्रोध ज्ञान पर पर्दा डालता है। ऐसी माया पैदा करता है कि आदमी समझ ही नही पाता कि वह पाप कर रहा है। आदमी मे गहरी मूर्च्छा और मूढ़ता पैदा हो जाती है और तब वह जानता हुआ भी नही जानता और देखता हुआ भी नही देखता। उसमे बुरे और भले का विवेक ही समाप्त हो जाता है। और तब वह न करने योग्य कार्य भी कर लेता है।

यह अन्तर्दृष्टि का समाधान है।

बाह्य जगत् मे रहने वाला आदमी इस भाषा में सोचता है कि जो भी बुराई हो रही है अथवा वह कर रहा है, वह दूसरे के कारण हो रही है। दूसरा आदमी इसका कारण बन रहा है। आदमी का यह स्वभाव बन गया है कि वह हर बात दूसरों पर आरोपित कर देता है। बुराई से छुट्टी पाने का इससे कोई सरल उपाय और है भी नही। उसने ऐसा कर दिया, इसलिए मुझे भी ऐसा करना पड़ा—यह कवच बना देता है अपनी बुराई के लिए। हर आदमी दूसरे को सामने रखता है। वह बुराई का सारा भार दूसरे पर डाल देता है। जब तक अन्तर्दृष्टि नही जागती, भीतर मे देखने की मनोवृत्ति नही जागती, जब तक भीतर मे उतर कर अपने आपको नही जानता-देखता तब तक आदमी सारे आरोप दूसरो पर डालता है। जब हम प्रेक्षा करते है, अपने आपको जानने और देखने का प्रयोग करते है, तो हमारी दिशा बदल जाती है। दिशा बदलते ही सब कुछ बदल जाता है। जब तक दिशा नही बदलती तब तक कुछ भी नही बदलता, चाहे नाम बदल जाए, रूप बदल जाए, कुछ भी बदल जाए, किन्तु व्यक्ति नही बदलता, दृष्टि नही बदलती।

एक राजा संन्यासी के पास गया। सन्यासी ने उसे उपदेश सुनाया।

राजा उपदेश से भावविभोर हो गया। उसे संसार की असारता स्पष्ट दीखने लगी।

उसने हाथ जोड़कर कहा—'गुरुदेव ! आपका उपदेश यथार्थ है। आज मैंने सचाई पा ली। मै भी संन्यासी बनना चाहता हू।'

संन्यासी वोला—'राजन् ! संन्यासी बनना इतना सरल काम नही है। मेरी बात सुनी और तुम्हारे मन मे संन्यासी बनने की बात आ गई। संन्यास का मार्ग कठिन है।'

राजा ने कहा—'क्या कठिन काम है ? बस, इतना ही तो करना है कि इस वेश को उतार कर सन्यासी के वेश को धारण करना है। महलों में रहना छोड़कर कुटिया मे रहना है।'

जब आदमी वेश की भाषा मे सोचता है तब वेश को वदलना तो कोई कठिन काम नही है। कठिन काम है अन्तःकरण को बदलना, अपने हृदय को बदलना।

राजा ने बहुत आग्रह किया। सन्यासी ने कहा—'जैसा सुख हो वैसा करो।'

राजा ने जाकर राज्य की व्यवस्था कर दी और संन्यासी के पास आकर संन्यास ग्रहण कर लिया।

राजा कुटिया मे रहने लगा। गुरु संन्यासी कुछ दिन वहा रहकर चला गया।

राजा अब अकेला रहने लगा। राजा सन्यासी तो बन गया था परतु उसका मानस अभी बदला नही था, कोरा वेश ही बदला था। उसका ध्यान यही रहता कि कुटिया को ज्यादा से ज्यादा सुन्दर कैसे बनाऊं। वह रोज जगल मे जाता और तरह-तरह की फूल-पत्तियां लाकर कुटिया को सजाता। पास में एक नदी थी। वह नदी पर जाता और सीपियो वटोर कर लाता और कुटिया मे यत्र-तत्र उन्हे संजोता। उन सीपियां को चित्राकार मे रखता। कुटिया को इतना सुन्दर सजाया कि वह महल के कमरे का-सा आभास देती। एक दिन गुरु-संन्यासी घूमते-घूमते वहां आ पहुंचा। राजा-सन्यासी को पता लगा। वह वाहर आया और जाकर संन्यासी के चरणो में लुट गया। गुरु-संन्यासी ने उसे वांहे पकड़ कर उठाया। उसने कहा—'गुरुदेव ! आप यहा पधारे। बड़ी कृपा की, मेरी कुटिया को पवित्र करे।'

राजा-संन्यासी का मन कुटिया का प्रदर्शन करना चाहता था। वास्तव मे कुटिया को पवित्र नही, कुटिया की सजावट दिखाना चाहता था।

गुरु-संन्यासी कुटिया मे गया। राजा-संन्यासी ने पूछा—'गुरुदव कैसे लगी कुटिया ?' वह वोला—'सुन्दर है, महल जैसी लग रही है।' 'गुरुदेव यह कैसे ?'

उसनेकहा —'मैंने पहले ही कहा था कि तुम कोरा वेश वदल रहे हो,

करने के
नही कर
उतरना
आदमी
को पा

वह उ

शत्रु
ऐसी
रहा
जा
अ
क

क्रोध पैदा होने का सबसे बड़ा कारण है काम। काम की पूर्ति में कोई बाधा आती है तो तत्काल गुस्सा आ जाता है। कामना की अपूर्ति की पहली प्रतिक्रिया है क्रोध। काम क्रोध को पैदा करता है।

कामना पहले इन्द्रिय मे पैदा होती है। पहले होती है इन्द्रिय-कामना और फिर वह मन पर उतर कर मानसिक बन जाती है। इन्द्रियों की कामना सीमित होती है, पर मानसिक कामनाएं असीम बन जाती है। इन्द्रियो का क्षेत्र छोटा है। मन का क्षेत्र बहुत बडा है, इसलिए मानसिक कामनाओं का कही अन्त ही नजर नही आता, वह अनन्त बन जाता है। आंख देख सकती है, पर एक सीमित क्षेत्र को। मन की कोई सीमा नही है। एक क्षण मे विश्व मे घूम कर आ सकता है। उसके लिए कुछ भी अगम्य नही है। समुद्र या पर्वत उसके बाधक नही बनते। उसके लिए गत्यवरोधक कोई पदार्थ है ही नही। वह अबाध संचरण कर सकता है।

मानसिक कामना से अधिक जटिल होती है बौद्धिक कामना। जब कोई कामना बुद्धि मे पेठ जाती है, तब वह भयंकर बन जाती है। मन से भी आगे है बुद्धि का स्थान। वह और अधिक व्यापक है। वहां कामना और अधिक व्यापक बन जाती है। मन तो फिर भी एक कर्मचारी की सीमा में आ जाता है। यदि बुद्धि चाहे तो उस पर रोक लगा सकती है। बुद्धि में वह शक्ति है कि वह चाहे तो मन को गतिमान् करे और न चाहे तो उसे स्थिर कर दे। पर जब कामना बुद्धिगत हो जाती है तब उस पर नियंत्रण करने वाला कोई नही बचता। वह अधिक जटिल बन जाती है।

इस प्रकार इन्द्रिय काम, मानसिक काम और बौद्धिक काम—ये तीनो काम हमारी वृत्तियों में उछृंखलता पैदा करते है। काम या कामना अपने आप सामने नही आती। वह इन्द्रिय के माध्यम से, मन के माध्यम से और बुद्धि के माध्यम से सामने आती है। इन तीनो को माध्यम बनाकर काम अपनी प्रवृत्ति करता है।

जब तक यह काम नही बदलता, तब तक समता की दृष्टि नही जागती। प्रेक्षा का अर्थ है—अपने भीतर रहे हुए काम और क्रोध को देख लेना, जान लेना और अनुभव कर लेना कि जो कुछ भी अनिष्ट हो रहा है, बुरा आचरण हो रहा है, जानते हुए भी पाप का आचरण हो रहा है, वह सब काम-वासना के कारण हो रहा है।

फ्रायड ने ठीक ही कहा, हमारी सारी प्रवृत्तियों का मूल है—सेक्स या काम। सेक्स केवल काम का ही वाचक नही है। वह मनुष्य की समस्त वृत्तियों और प्रवृत्तियों का वाचक है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि काम ही सब कुछ करा रहा है। यदि यह काम की इच्छा न हो तो आदमी की अन्यान्य इच्छाएं सिमट जाएंगी।

अभी तक मन नही बदला है, अन्त.करण नही बदला है। महल छोड दिया तुमने, पर महल मे रहने वाली वृत्ति नही वदली। तुम कुटिया को महल का रूप देना चाहते हो।'

जब तक अन्त.करण नही बदलना, आदमी भीतर से नही बदलता, तब तक बाहरी परिवर्तन हो जाने पर भी वहुत कुछ परिवर्तन नही होता।

अपेक्षा इस बात की है कि आदमी भीतर से वदले, जो भीतर मे है उसे बदले। उसे यह बात समझ में आ जाए कि बुराई मे ले जाने वाला, बुराई का आचरण कराने वाला जो है वह भीतर रहने वाला काम और क्रोध है।

'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष, ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

आदमी के अन्त.करण में रहने वाला काम बुराई कराता है, पर उसके माध्यम क्या है ? गीता में उसके तीन माध्यम बतलाए गए हैं—इन्द्रिया, मन और बुद्धि। काम पैदा होता है इन्द्रियो मे, मन मे और बुद्धि में। आदमी को बुराई में व्यापृत करने वाली ये तीन कामनाएं है—इन्द्रिय कामना, मानसिक कामना और बौद्धिक कामना। इन्द्रिय में कामना की एक तरंग उठती है और वह भान भूल जाता है। उसमे विवेक नही रहता, लुप्त हो जाता है। बड़े-बड़े साधक भी खाने की चीज के लिए लड पडते है। इसका कारण है कि उनमे इन्द्रिय की कामना छूटी नही है।

दो बातें होती है—एक है इन्द्रिय का विषय और दूसरी है—इंद्रिय का विकार। दोनों भिन्न है। विषय छूट जाने पर भी विकार नही छूटता। रस या स्वाद का अनुभव करना—यह इन्द्रिय का विषय है। वस्तु मीठी है या कडवी है, सरस है या विरस है—यह जानना इन्द्रिय का विषय है। जब उसके साथ विकार जुडता है तब वस्तु मीठी या कडवी, सरस या विरस नही रहती, वह अच्छी या बुरी बन जाती है। तब वह स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट वन जाती है, जव अच्छी-बुरी की भावना अथवा स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट की भावना जागती है तब इन्द्रिय-विकार पैदा होता है। इन्द्रिय-विकार से ग्रस्त आदमी फिर मनोज्ञ वस्तु की प्रशंसा करते-करते नही अघाता और अमनोज्ञ वस्तु की निंदा भी उतनी मात्रा मे करने लग जाता है।

यह सारा इन्द्रिय की कामना-तरग के कारण होता है। कामना की तरंग फिर चाहे आख की हो, जीभ की हो या कान की हो। तरंग उठते ही आदमी वेभान हो जाता है, विवेकशून्य हो जाता है, विवेक की चेतना लुप्त हो जाती है।

काम इन्द्रियों मे पैदा होता है। काम के साथ-साथ क्रोध आता है। यदि काम नही होता तो क्रोध भी नही होता।

क्रोध पैदा होने का सबसे बडा कारण है काम। काम की पूर्ति मे कोई
ा आती है तो तत्काल गुस्सा आ जाता है। कामना की अपूर्ति की पहली
ाक्रिया है क्रोध। काम क्रोध को पैदा करता है।

कामना पहले इन्द्रिय मे पैदा होती है। पहले होती है इन्द्रिय-कामना
र फिर वह मन पर उतर कर मानसिक बन जाती है। इन्द्रियों की कामना
मित होती है, पर मानसिक कामनाएं असीम बन जाती है। इन्द्रियो का
त्र छोटा है। मन का क्षेत्र बहुत बड़ा है, इसलिए मानसिक कामनाओ का
ो अन्त ही नजर नही आता, वह अनन्त बन जाता है। आंख देख सकती
पर एक सीमित क्षेत्र को। मन की कोई सीमा नही है। एक क्षण मे विश्व
घूम कर आ सकता है। उसके लिए कुछ भी अगम्य नही है। समुद्र या
त उसके बाधक नही बनते। उसके लिए गत्यवरोधक कोई पदार्थ है ही
ो। वह अबाध संचरण कर सकता है।

मानसिक कामना से अधिक जटिल होती है बौद्धिक कामना। जब
ई कामना बुद्धि मे पेठ जाती है, तब वह भयंकर बन जाती है। मन से भी
गे है बुद्धि का स्थान। वह और अधिक व्यापक है। वहा कामना और
धक व्यापक बन जाती है। मन तो फिर भी एक कर्मचारी की सीमा मे
जाता है। यदि बुद्धि चाहे तो उस पर रोक लगा सकती है। बुद्धि मे वह
क्ति है कि वह चाहे तो मन को गतिमान् करे और न चाहे तो उसे स्थिर
र दे। पर जब कामना बुद्धिगत हो जाती है तब उस पर नियंत्रण करने
ाा कोई नही बचता। वह अधिक जटिल बन जाती है।

इस प्रकार इन्द्रिय काम, मानसिक काम और बौद्धिक काम—ये तीनों
म हमारी वृत्तियों मे उछृंखलता पैदा करते है। काम या कामना अपने
प सामने नही आती। वह इन्द्रिय के माध्यम से, मन के माध्यम से और
द्धि के माध्यम से सामने आती है। इन तीनों को माध्यम बनाकर काम
ानी प्रवृत्ति करता है।

जब तक यह काम नही बदलता, तब तक समता की दृष्टि नही
गती। प्रेक्षा का अर्थ है—अपने भीतर रहे हुए काम और क्रोध को देख
ा, जान लेना और अनुभव कर लेना कि जो कुछ भी अनिष्ट हो रहा
बुरा आचरण हो रहा है, जानते हुए भी पाप का आचरण हो रहा है, वह
ा काम-वासना के कारण हो रहा है।

फ्रायड ने ठीक ही कहा, हमारी सारी प्रवृत्तियो का मूल है—सेक्स
काम। सेक्स केवल काम का ही वाचक नही है। वह मनुष्य की समग्र
त्तियो और प्रवृत्तियो का वाचक है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि
म ही सब कुछ करा रहा है। यदि यह काम की इच्छा न हो तो आदमी
अन्यान्य इच्छाएं सिमट जाएंगी।

ह म प्रेक्षा के द्वारा शरीर मे, इन्द्रियो में, मन मे और वुद्धि मे रहे हुए काम के बीज को जान लें, देख ले, साक्षात्कार कर लें। जब हम उस बीज को देख लेते है तब सहज ही परिवर्तन होने लगता है, वृत्तियों में रूपान्तरण आने लगता है। प्रेक्षा का अर्थ ही है भीतर में पडे हुए वृत्तियो के बीजो का साक्षात्कार करना। कितना भरा पडा है भीतर मे। भीतर में न जाने कितने विघ्न और कितनी बाधाएं है। उन सवको जान लेना प्रेक्षा है।

हमारा शरीर भी विचित्रताओं का खजाना है। सूक्ष्म शरीर और अधिक आश्चर्यजनक है। अरबो-खरबों कोशिकाएं और न्यूट्रोन से बने ये शरीर विचित्रता पैदा करते है। भीतर की सृष्टि बहुत बडी है। हमने भीतर देखना सीखा नही, अन्यथा हम जान पाते कि भीतर क्या-क्या है।

आदमी दुःख पा रहा है। वह सोचता है, दु.ख का कारण है पुत्र, पत्नी, माता-पिता-भाई आदि। परन्तु वह नही जानता कि उसके दु.ख का मूल भीतर में विद्यमान है।

भीतर मे देखे बिना वह उसे पहचान नही पाता और बाहर ही बाहर दुःख के कारण खोजते-खोजते भटक जाता है। वहां एक बात है, यदि वह भीतर में देख लेता है तो संभव है वह इस संसार से छुटकारा पाने के लिए तड़फ उठता। वह फिर किसी भी झंझट मे नहीं फंसता और ससार त्याग कर संन्यासी बन जाता। जब आदमी भीतर के संसार से परिचित हो जाता है तब उसमे नए प्रकार की चेतना जागती है, नई आंख खुलती है। उसे हम चाहे तीसरा नेत्र कह दे या दिव्यदृष्टि कह दें उस दृष्टि से उसमें समता का विकास होता है और तब उसका दुःख रहता नही।

हजरत ऊमर बहुत बड़े खलीफा थे। वे शाही नौकरी में बडे पद पर थे। राज दरबार में उनका बहुत सम्मान था। एक दिन किसी ने कहा—'हुजूर ! आप इतने बडे पद पर है, पर वेतन तो आप एक अपने कर्मचारी का ही लेते है। यह क्यों ? आपको अधिक वेतन लेना चाहिए।' खलीफा ने कहा—दोस्त ! छोटे कर्मचारी का और मेरा पेट बराबर है। पेट में कोई अन्तर नही है, पद मे अन्तर अवश्य है। पेट तो जितना उसका है, उतना ही मेरा है। जितना वह खाता है, उतना ही मैं खाता हूं। मैं उससे दस-बीस गुना अधिक नही खाता। पद और पेट बराबर नही होते। पद अलग हो सकता है, पेट अलग नही हो सकता।

जब अन्तर् की दृष्टि जागती है तब इस समता की दृष्टि का विकास होता है। जब तक यह समता नही आती, तब तक जीवन का ऊबड़खाबडपन नही मिट सकता। जब दृष्टि बदलती है तब वृत्ति भी बदल जाती है। ऐसा व्यक्ति समूचे संसार को समता की दृष्टि से देखने लग जाता है।

अधिकार पद का भेद होना बुरा नही है। यह हो सकता है, क्योंकि

अधिकार और पद का आधार है—योग्यता, कार्य-क्षमता, बुद्धि-कौशल। किन्तु जीवन-यात्रा मे कोई भेद नही है। जीवन निर्वाह के साधनों मे कोई भेद नही होता। ऐसा नही है कि कोई आदमी आकाश से टपका है और उसे जीवन निर्वाह के लिए करोड़ रुपया चाहिए और दूसरे को केवल सौ रुपया चाहिए। ऐसी विषमता नही है जीवन-निर्वाह के प्रश्न मे। पर यह विषमता पलती-पुषती है, क्योकि व्यक्ति मे दिव्यदृष्टि जागृत नही है। मै कभी-कभी सोचता हू कि इतनी बडी विषमता कैसे चल सकती है। फिर समाधान मिलता है कि आदमी जिस धरातल पर जी रहा है, उस धरातल पर यह सारी बात चल सकती है, खप सकती है। यदि भूमिका, धरातल बदल जाए तो यह बात एक दिन भी नही चल सकती, एक क्षण भी नही चल सकती।

प्रेक्षा अन्तर्दृष्टि के विकास का माध्यम है। इमसे तीन फलित होते है—दिशा का परिवर्तन, वृत्ति का परिष्कार और अन्तर्दृष्टि का विकास। हम पदार्थ को केवल बाहर से ही न देखे, उसकी भीतरी संरचना को भी देखे। जब आदमी भीतर घुसकर देखता है तब उसे नई-नई चीजे दीखती है। समुद्र के तट पर खडे होकर समुद्र को देखने से पानी पर छाई सेवाल और ऊपर तैरती हुई सीपियां ही दृष्टिगोचर होंगी। जो समुद्र के भीतर डुबकी लगाकर देखता है, तब उसे ज्ञात होता है कि वह रत्नाकर है। रत्न सतह पर नही मिलते। उनके लिए गहरे मे उतरना आवश्यक है। यह बात प्रत्येक आदमी पर लागू होती है। आदमी इतना ही नही है, जितना ऊपर से दिखता है। उसका भीतरी भाग और अधिक निराला है।

१
समुद्र में नाव

ढाई हजार वर्ष पहले की घटना है। एक दिन दो बडे ज्ञानी पुरुष मिले। एक थे भगवान् महावीर के शिष्य। नाम था गौतम। और दूसरे थे भगवान् पार्श्व के शिष्य। नाम था कुमारश्रमण केशी। दोनो वडे तत्त्ववेत्ता और महान् दार्शनिक तथा अध्यात्म जगत् के उज्ज्वल नक्षत्र। दोनो का मिलन हुआ। जिस प्रकार के लोग मिलते है, उसी प्रकार की चर्चा प्रारंभ हो जाती है। व्यापारी मिलेगे तो व्यवसाय की चर्चा चलेगी, राजनीति के लोग मिलेगे तो राजनीति की चर्चा चलेगी और तत्त्वज्ञानी मिलेंगे तो तत्त्व की चर्चा चलेगी। अपना-अपना मानस होता है। जिसका जैसा मानस होता है, वैसी ही अभिव्यक्ति शुरू होती है और वैसी ही चर्चा प्रारम्भ हो जाती है।

दोनों तत्त्ववेत्ता मिले। तत्त्वज्ञान की बात शुरू हुई। कुमारश्रमण केशी ने कहा—'गौतम ! एक बहुत बड़ा समुद्र है। उसमें एक नौका तीव्र गति से दौडी जा रही है, निरंतर गतिमान् है और गौतम ! तुम उस नौका पर सवार हो, क्या तुम उस पार पहुंच जाओगे ? कैसे ?

गौतम ने कहा—'कुमारश्रमण ! मै पार पहुंच जाऊंगा। देखो, जिस नौका मे छेद होता है, वह नौका बीच मे डूब जाती है, पार नही पहुंच पाती। किन्तु जिस नौका में छेद नही होता, जो नौका निश्छिद्र है, वह पार पहुच जाती है। मैं जिस नौका पर चढ़ा हुआ हूं वह निश्छिद्र है। उसमे कोई छेद नही है, इसलिए मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि मेरी नौका पार पहुंच जाएगी।'

दोनों ज्ञानी आपस मे चर्चा कर रहे थे। पास में अनेक शिष्य वैठे थे। उन्होंने सोचा—समुद्र कौन-सा है ? यहां तो कोई समुद्र नही दीखता। न समुद्र है, न नौका है और न नौका पर कोई वैठा है। उनके मन इन जिज्ञासाओ से भर गए। उन सवकी जिज्ञासाओं को ध्यान मे रखकर केशी ने पूछा—'भते ! आपने जो कहा, उसे और स्पष्ट करे। समुद्र कौन-सा है ? नौका कौन-सी है ? नाविक कौन है ? कहां पहुंचना है ?'

तव गौतम ने उत्तर दिया—'यह शरीर एक नौका है, जीव एक नाविक है, संसार एक महान् समुद्र है जिसमे निरंतर यह नौका दौडी चली जा रही है। जो महान् ऋषि होता है, जो सत्य का द्रष्टा है, सत्य की साधना

करने वाला है, वह निश्छिद्र होता है, वह इस नौका के द्वारा पार पहुंच जाता है। जिसकी नौका में छिद्र होता है, असत्य का छेद होता है, वह बीच में डूब जाता है। बहुत बड़ा छिद्र है झूठ जो सारे जीवन को चलनी बना देता है। सत्य है निश्छिद्रता, जो सारी चलनी को भर देता है, ढांक देता है।

केशी-गौतम के इस संवाद में एक महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट हुई है। वह यह है कि शरीर एक नौका है। शरीर के विषय में हमारी धारणा एकांगी है। वह सत्य से परे है और अस्पष्ट है। एक बात है, जो धार्मिक व्यक्ति शरीर को सही समझने का प्रयत्न नहीं करता वह सही अर्थ में धार्मिक भी नहीं होता। यह आज भी एक प्रश्नचिन्ह बना हुआ है। यह एक सचाई है कि शरीर के रहस्यों को और सूत्रों को जाने बिना धर्म की साधना करने में कठिनाई आती है। शरीर के जिस एक पहलू को हमने जाना है वह भी धर्म-ग्रन्थों से जाना है, धर्म-गुरुओं से जाना है। शरीर की अशुचिता का हमें ज्ञान है और यह पहलू भी असत्य नहीं है, यथार्थ है। शरीर के प्रति होने वाली मूर्च्छा को दूर करने के लिए उसका अपना मूल्य है। उसकी व्यर्थता नहीं है। पर यह एकांगी दृष्टिकोण है और इससे हमने शरीर का मूल्यांकन किया है। यह मूल्यांकन अधूरा है।

हम दूसरे पहलू की ओर ध्यान दें। साधना करने का साधन क्या है? क्या शरीर के अतिरिक्त कोई साधन है साधना का? साधना का एक मात्र माध्यम है यह शरीर। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—

'जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे।"

जब तक बुढ़ापा न आए, शरीर रोग से ग्रस्त न हो, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो जाए तब तक धर्म का आचरण कर लो।

बुढ़ापा कहां उतरता है? शरीर में ही तो उतरता है। रोग कहां आता है? शरीर में ही तो आता है। इन्द्रियां कहां हैं? शरीर में ही तो हैं।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—धर्म की साधना का पहला माध्यम है—शरीर। शरीर के बिना धर्म की साधना नही हो सकती। इसलिए कहा गया, जब तक यौवन अवस्था है, जब तक शरीर नीरोग है, जब तक इन्द्रियां सक्षम हैं, तब तक धर्म करो क्योंकि धर्म-साधना का बहुत बड़ा माध्यम यही शरीर है। इसे इसीलिए नौका कहा गया है। नौका के बिना समुद्र को पार नही किया जा सकता। ऐसी कोई नौका चाहिए जिसके द्वारा समुद्र को पार किया जा सके और यह शरीर एक सशक्त नौका है। संसार समुद्र है। इस नौका के बिना पार नही किया जा सकता।

शरीर अशुचि का भंडार है तो साथ ही साथ यह चेतना का स्थान है, सशक्त नौका है।

एक प्रश्न है। कहा है आत्मा ? आत्मा का निवास-स्थान कहा है ? क्या वह इस शरीर से बाहर है ? नही, वह इस शरीर में है। यह शरीर आत्मा का निवास-स्थान है, चेतना का मंदिर है। केवलज्ञान कहां प्रकट होता है ? वह भी इस शरीर मे होता है। सब कुछ इस शरीर के माध्यम से होता है। अवधिज्ञान, अतीन्द्रिय ज्ञान, इन्द्रिय ज्ञान—ये सब शरीर के माध्यम मे होते है। यदि शरीर में आख नही होती तो रूप का ज्ञान नही होता। यदि शरीर मे कान नही होते तो शब्द का ज्ञान नही होता। पांचो इन्द्रिय का ज्ञान शरीर के माध्यम से होता है। सारा अतीन्द्रियज्ञान शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। अवधिज्ञान के केन्द्र भी शरीर मे बने हुए है।

ज्ञान का उत्पादन नही करना है, नया निर्माण नही करना है, अभिव्यक्त करना है और वह होता है शरीर मे बने हुए विभिन्न चैतन्य-केन्द्रो के माध्यम से। अवधिज्ञान की अभिव्यक्ति के कुछेक चैतन्य-केन्द्र ये है—

१. दर्शनकेन्द्र—भृकुटि के पास।

२. ज्योतिकेन्द्र—ललाट के मध्य।

३. शांतिकेन्द्र—सिर के अग्रिम भाग में।

४. ज्ञानकेन्द्र—चोटी के स्थान मे।

ये सारे केन्द्र हमारे शरीर में है। दूसरों के मन को पढ़ने वाला ज्ञान मनःपर्यवज्ञान तथा निरावरण ज्ञान—केवलज्ञान के केन्द्र भी इसी शरीर मे है। जब केवलज्ञान पैदा होता है तब शरीर के सारे चैतन्य-केन्द्र सक्रिय हो जाते है, सारे आवरण टूट जाते है।

शरीर साधना का एक महत्त्वपूर्ण मंदिर है, इतना पवित्र कि जितना पवित्र कोई दूसरा मंदिर नही है। यह शरीर का दूसरा पहलू है।

प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि ध्यान-साधक जब तक शरीर के मर्मो को नही समझेगा, तब तक वह सही ढंग से ध्यान नही कर सकेगा। ध्यान साधना से आत्मा का साक्षात्कार करना है, आत्मा तक पहुचना है। पर वहां एक छलांग में नही पहुचा जा सकता। आत्म-साक्षात्कार मे छलांग की बात मान्य नही है। हमे एक-एक कदम आगे बढ़ना होगा। जो व्यक्ति अध्यात्म को, ध्यान को सही ढंग से समझता है, वह यह जानता है कि आत्मा तक सीधा नही पहुंचा जा सकता। अध्यात्म साधना का यही लक्ष्य है। पर क्या शरीर के बिना, शरीर की उपेक्षा कर, शरीर को छोड़कर, वहा पहुंचा जा सकता है ? दरवाजों तक गए बिना क्या भीतर प्रवेश संभव हो सकेगा ? आत्मा बहुत गहरे में है। इतने गहरे मे है, न जाने कितने दरवाजे हैं, कितने अवरोधक है, कितने ताले है। उन सबको पार किये बिना आत्मा तक नही पहुंचा जा सकता। आत्मा है कहां ? वह कोई अधर मे लटका हुआ तत्त्व नहीं है। वह तो भीतर, गहरे भीतर मे सुरक्षित बैठा

है। अनेक आवरण हैं, पर्दे हैं, इन सबके भीतर वह है।

आचार्य मानतुंग बहुत प्रभावक आचार्य थे। उन्होंने भक्तामरस्तोत्र की रचना की। उसका भी एक कारण बना। एक बार राजा ने उनकी परीक्षा करनी चाही, उनकी शक्ति को जानना चाहा। उसने आचार्य को एक कोठरी में बंद कर, दरवाजे पर अड़तालीस ताले लगा दिए। उसने आचार्य से प्रार्थना की—'आप इन तालों को शक्ति के द्वारा खोलकर बाहर आ जाएं।'

आचार्य के सामने समस्या खड़ी हो गई। भीतर बैठे-बैठे बाहर लगे हुए अड़तालीस तालों को खोलना, वास्तव में एक समस्या थी। बाहर रहने वाला प्रयत्न कर ताले खोल सकता है, पर भीतर वाला बाहर लगे तालों को कैसे खोल सकता है? वास्तव में समस्या थी। पर जब आत्मा की शक्ति जागती है तब कोई समस्या नहीं रहती। आत्मशक्ति जब सोई रहती है तब समस्या समस्या बनी रहती है और असमस्या भी समस्या बन जाती। जब आत्मा जागती है तब सब समस्याएं तिनके की भांति टूट जाती हैं, बिखर जाती हैं और कपूर की भांति उड़ जाती हैं। उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

आचार्य मानतुंग की आत्मा जागृत थी, प्रबुद्ध थी। उन्होंने स्तोत्र की रचना प्रारम्भ की। 'भक्तामरप्रणत......................'—पहला श्लोक पढ़ा और एक ताला टूट कर जमीन पर गिर पड़ा। वे एक-एक श्लोक रचते गए, पढ़ते गए और एक-एक ताला टूटता गया। उन्होने अड़तालीस श्लोक रचे, पढ़े और अड़तालीस ताले टूट गए। दरवाजा खुल गया और वे बाहर निकल आए। ऐसा लगा कि जैसे कोई गहरी घटा छाई हो और उसकी ओट में सूरज छिप गया हो। हवा चली, घटा तीतर-बीतर हुई और सूर्य प्रगट हो गया।

हमारी आत्मा शरीर की कोठरी में बंद है। उसके दरवाजे पर अड़तालीस नही, सैंकड़ों ताले लगे हुए है। जब तक इन तालों को नही खोला जाता तब तक आत्मा प्राप्त नही हो सकती। अनेक लोग आत्मा तक पहुंचने की बात करते हैं, पर तालों के कैसे खोला जाता है, वे बेचारे नही जानते। वे प्रयत्न करते हैं आत्मा तक पहुंचने का, पर भटक जाते हैं, कहीं अन्यत्र पहुंच जाते है।

प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति के लिए जरूरी है कि वह आत्मा को जानने से पहले शरीर को जाने, चेतना के नियमों को जानने से पूर्व शरीर के नियमों को जाने-समझे। इसीलिए प्रेक्षा-ध्यान में शरीर को समझने पर अधिक बल दिया जाता है। जिस साधक ने कायसिद्धि, वाक्सिद्धि और मनःसिद्धि नहीं की, वह आत्मा की सिद्धि कैसे कर पाएगा? एक शब्द में कहा जा सकता कि जिसने शरीर को नही साधा, वह आत्मा को नहीं साध सकता।

सिद्धि से पूर्व इन तीन सिद्धियों को प्राप्त करना बहुत जरूरी है। तीन सिद्धियो को हम एक शब्द में कहना चाहें तो वह शब्द होगा - गुप्ति की साधना।

मन के स्थिर न रहने का प्रश्न बार-बार सामने आता है। मैं प्रति-प्रश्न करता हूं कि क्या आपने शरीर को साधने का प्रयत्न किया? क्या आपने शरीर के रहस्यों को जानने का प्रयत्न किया? यदि यह प्रयत्न नही हुआ है तो मन को स्थिर रखने की बात कभी संभव नही होगी।

जिस व्यक्ति ने जीभ को नही समझा-साधा, वह मन को स्थिर कैसे रख सकेगा? जिस व्यक्ति ने दाएं पैर के अगूठे को नही समझा, वह मन को स्थिर कैसे रख पाएगा? जिस व्यक्ति ने आखो को, कानों को, भृकुटि को, ललाट को नही सकझा, वह मन को स्थिर कैसे कर सकेगा? ये सारे साधन हैं मन की चंचलता को कम करने के। जीभ, दाएं पैर का अंगूठा, आखें आदि अचूक साधन है मन को वश मे करने के लिए। जिस व्यक्ति ने आंखों पर ध्यान करना सीख लिया, उसने बहुत कुछ सीख लिया। हम तो मात्र यही जानते है कि आंखों का काम है कि सामने जो आए उसे देख लेना। दुनिया सीखाती है कि आंखो से देखो। हम कहते है आंखों को देखो। 'से' और 'को' का अन्तर है। जब हम आंखों के भीतर देखना प्रारंभ करते है तब एक नए संसार का दर्शन होता है, उसकी प्रतीति होती है।

शरीर को देखना बहुत बड़ी कला है, बड़ा विज्ञान है, बड़ी साधना है।

आज का डाक्टर शरीर के प्रत्येक अवयवो की संरचना को जानता है, उनकी अवस्थिति को जानता है और उनके प्रत्यारोपण की विद्या में पारंगत होता है। वह उन अवयवों की प्रवृत्ति और कार्यप्रणाली को जानता है, क्योंकि उसने एनोटॉमी और फिजियोलॉजी पढ़ी है। पर वह नही जानता कि मनोवृत्तियों के उत्पादन में और उनके उपशमन में कौन-सा अवयव काम आ सकता है। क्रोध, भय, अशांति, बेचैनी को कैसे मिटाया जा सकता है, डाक्टर नही जानता। यदि हम इन मनोवृत्तियों को बदलने के केन्द्रो को जान लेते है तो धर्म का ज्ञान कर लिया जाता है। इन रूपान्तरणों के घटक, अवयव या केन्द्र हमारे शरीर मे विद्यमान है।

शरीर के हजारो-हजारों नियम है। तर्जनी और मध्यमा—इन दोनों अंगुलियो की मुद्रा से शरीर मे एक प्रकार का परिवर्तन प्रारंभ हो जाता है। तर्जनी और अंगूठे की मुद्रा से दूसरे प्रकार का परिवर्तन होता है। पालथी की मुद्रा मे बैठने से भीतर मे भिन्न प्रकार की धारा प्रवाहित होती है। दसों अंगुलियो को मिलाने से भिन्न प्रकार का परिवर्तन होता है। इसी प्रकार वज्रासन, शीर्षासन आदि-आदि मुद्राओं से भिन्न-भिन्न रूपान्तरण होते है। ये सारे प्राणधारा से होने वाले परिवर्तन हैं। नियम यह है कि इन मुद्राओं के

वाले प्रकम्पनों का, रासायनिक परिवर्तनो का, प्राण-विद्युत् का अनुभव करो, तो लगता है यह वेकार वात है। किन्तु इसका एक उपयोग है, मर्म है। जव साधक भीतर होने वाले परिवर्तनों की सचाई को सचाई के रूप में स्वीकार करता है तव उसका ज्ञान यथार्थ होता है। न उसमें राग होता है और न द्वेष। वह यथार्थ जानता है, ज्ञान है। वुराई को जानना भी यथार्थ ज्ञान है। जब जानने का क्षण शुद्ध होता है, राग-द्वेष रहित होता है, वह अध्यात्म का क्षण है, ध्यान और धर्म का क्षण है। फिर जानना चाहे आत्मा का हो, शरीर का है, श्वास का हो या तिनके का हो। विपय-भेद से ज्ञान में अन्तर नही आता। ओब्जेक्ट कुछ भी हो, कोई अन्तर नही पडता। अन्तर 'पड़ता है—कैसे जान रहे है ? यदि राग-द्वेप-मुक्तभाव से जान रहे है तो वह जानना अध्यात्म का जानना है और यदि राग-द्वेष-से जुड़े हुए भाव से जान रहे है तो वह जानना अध्यात्म नही है।

इन सारे सन्दर्भो मे यह बात समझ मे आ जाएगी जो गौतम ने केशी को बताई थी कि शरीर एक नौका है। शरीर बहुत पवित्र है—इसे जानना है। शरीर अपवित्र है—इसे हम जान चुके है, वहुत परिचित है, यह जाना हुआ सत्य है। पर शरीर एक नौका है जिसके द्वारा संसार समुद्र को तरा जा सकता है, यह बात जब समझ मे आ जाएगी तब शरीरप्रेक्षा और श्वास-प्रेक्षा की बात भी समझ में आ जाएगी। जब तक यह पहलू हृदयगम नही होगा, तब तक प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास अटपटा-सा लगेगा, शरीरप्रेक्षा और श्वास-प्रेक्षा की बात भी अटपटी लगेगी। इसीलिए हम एकांगीदृष्टि से न देखें, एकांगी-दृष्टि से कोई निर्णय न ले। हमारे निर्णय का आधार बने हमारा सर्वांगीण दृष्टिकोण।

१०
घोड़ा और लगाम

उस प्रदेश मे हाथी नहीं होता था। एक हाथी राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। अमात्य ने प्रार्थना की—'राजन्! आप हाथी की सवारी करे।' राजा के मन मे उत्सुकता थी। हाथी पर चढ़ने की लालसा प्रवल हो उठी। उसने हाथी को चारो ओर से देखा। पहली बार उसने इतना विशालकाय पशु देखा था। उसने उस पर आरोहण करने से पूर्व कहा—'आज इतने विशाल-काय पशु पर सवारी करने का मुझे नया अनुभव होगा। लाओ, लगाम मेरे हाथ मे थमा दो।' अमात्य ने कहा—'स्वामिन्! हाथी के लगाम नही होती।' यह सुनकर राजा आश्चर्यचकित रह गया। उसने कहा—जिसकी लगाम मेरे हाथ मे नही होती, मै उस पर चढना नही चाहता। जिसकी मैं सवारी करूं उसकी लगाम मेरे हाथ मे होनी चाहिए।'

आदमी एक ऐसे घोड़े पर चढ़ा हुआ है, जिसकी लगाम उसके हाथ मे नही है। वह घोडा नटखट है, तेज दौड़ने वाला है और किसी के वश मे रहने वाला नही है। आदमी उस वेलगाम घोड़े की सवारी कर रहा है।

केशी ने गौतम से कहा—'महाप्रज्ञ! जिस घोड़े पर तुम चढ़े हुए हो, वह तुम्हे दूर क्यो नही ले जाता? भटका क्यो नही देता? जंगल मे क्यों नही ले जाता?'

गौतम ने कहा—'महामुने! उस घोडे की लगाम मेरे हाथ मे है। जव वह तेज दौडना शुरू होता है तव मै लगाम खीच लेता हूं और तव वह वही रुक जाता है, थम जाता है। मेरा घोडा कभी उन्मार्ग में नही जाता। वह सदा मार्ग पर चलता है।'

यह सारी पहेली की भाषा है। फिर केशी ने पूछा—'महाप्रज्ञ! कौन-सा है तुम्हारा घोडा? वह लगाम कौन-सी है तुम्हारे हाथ मे, जो घोड़े का नियन्त्रण करती है और घोड़े को उन्मार्ग मे जाने से रोकती है?'

गौतम वोले—'महामुने! यह मन एक साहसिक घोडा है। यह दुष्ट अश्व है। यह इतना तेज दौड़ता है कि आदमी को कही का कहीं ले जाता है, उन्मार्ग में दौडने लग जाता है। आदमी हताश हो जाता है उसके सामने। मेरे पास श्रुतज्ञान की लगाम है, आत्मज्ञान की लगाम है। उस लगा…

जब खीचता हूं तब घोडा वही थम जाता है ।[१]

केशी-गौतम का संवाद एक रूपक की भाषा में है, किन्तु उसमे बहुत बडी सचाई का प्रतिपादन हुआ है । यह प्रश्न हजारो-हजारो लोगो का है, मात्र केशी का नही है । प्रश्न है—मन का घोड़ा इतना तेज दौडता है कि उस पर काबू पाना सरल नहीं है । बड़ा चपल है यह घोड़ा । निरन्तर दौडता रहता है । क्या घोडा कभी बैठा रहता है ? जो बैठा रहेगा, वह घोडा नही होगा । घोड़े को प्रतिदिन घुमाना पडता है, अभ्यास कराना पडता है । जिसको घुमाया नही जाता वह घोडा घोडा नही रहता, निकम्मा पशु बन जाता है । घोड़े मे गति है । वह चलता है तभी अच्छा लगता है । यदि घोडे मे गति न हो तो वह किस काम का ? वह तो मिट्टी बन जाएगा ।

प्रश्न है— क्या मन चचल है ?' क्या चचलता उसका स्वभाव है ? क्या उसको अचचल बनाया जा सकता है ?

मन को कभी अचंचल नही बनाया जा सकता । यह असभव बात है ।' मन का अर्थ है—प्रवृत्ति । जीवन की तीन प्रवृत्तियां है—शरीर की प्रवृत्ति, वाणी की प्रवृत्ति और मन की प्रवृत्ति । इन तीनो प्रवृत्तियो को स्थिर कैसे किया जा सकता है ? शरीर को फिर भी स्थिर किया जा सकता है और मौन कर वाणी को भी स्थिर किया जा सकता है, पर मन को स्थिर करने की कोई बात ही नही है ।

शरीर की प्रवृत्ति की दो स्थितियां बनती है—चचलता या स्थिरता । इच्छा होने पर अगुली हिला सकते है और इच्छा होने पर उसे स्थिर कर सकते है । मन और वाणी के लिए यह बात नही है । या तो मन होगा या मन नही होगा । या तो वाणी होगी या वाणी नही होगी । मन को भी हम पैदा करते है और वचन को भी हम पैदा करते है । जब मन को पैदा करते है तब मन होता है और जब मन को पैदा नही करते तब मन नही होता । जब वाणी को पैदा करते है तब वाणी होती है और जब वाणी को पैदा नहीं

---

१. उत्तराध्ययन २३/५५-५८ :

'अयं साहसियो भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
जंसि गोयम ! आरूढो, कहं तेण न हीरसि ?।।
'पधावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ।।
'अस्से य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।'
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।।'
'मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं निगिण्हामि, धम्मसिक्खाए कंथगं ।।'

करते तव वाणी नहीं होती। मन को स्थिर नही किया जा सकता। इस तथ्य को हम गहराई से समझ ले। हम चाहे तो उन्हे पैदा करें और न चाहें तो उन्हे पैदा न करे। पर मन और वचन का स्वभाव है—चंचलता, प्रवृत्ति, सक्रियता। उसे कभी मिटाया नहीं जा सकता, रोका नही जा सकता।

मन एक चंचल घोडा है। उसे रोका नही जा सकता, समाप्त नही किया जा सकता।

इस संदर्भ मे एक प्रश्न होता है कि जब मन को स्थिर नही किया जा सकता, उसको रोका नही सकता तो फिर ध्यान का उपक्रम क्यो?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि मन की चचलता को नही मिटाया जा सकता, किन्तु मन पर लगाम लगाई जा सकती है और लगाम के सहारे उस पर नियंत्रण किया जा सकता है। लगाम से चलने वाले और बेलगाम से चलने वाले घोडे में बहुत बड़ा अन्तर होता है। बेलगाम का घोड़ा भटका देता है, लगाम का घोडा भटकाता नही, राजमार्ग पर चलता जाता है, और सवार की इच्छानुसार चलता है। गौतम ने ठीक कहा—मेरे हाथ में लगाम है, इसलिए मेरा घोड़ा कभी उन्मार्ग में नही जाता, कभी नही भटकाता। मैं उस पर सवार हूं, जैसा चाहता हूं वैसे चला रहा हूं, इसलिए मुझे कोई कठिनाई नही है। मन की, उस घोड़े की चचलता से मुझे कोई कठिनाई नहीं होती। मन उपयोगी तत्त्व है। मन नही होता है तो जीव असंज्ञी होता है, विकास की अन्तिम भूमिका मे रहता है। मन हमारी चेतना का विशिष्ट विकास है। चीटी, कीडे, मकोडे—इन मे मन का विकास नही होता अत. ये असंज्ञी कहलाते है। मनुष्य में मन का विकास होता है और अन्यान्य प्राणियों की अपेक्षा वहुत विकास होता है। मन विकास की भूमिका का प्रतीक है। वह शत्रु नही है। उसका उपयोग करना चाहिए। यह एक कीमती घोडा है। यह वहुत लाभप्रद होता है यदि इसकी लगाम को समझ लिया जाए। गौतम ने ठीक कहा—मेरे हाथ मे श्रुतज्ञान की लगाम है। आदमी मे ज्ञान नही होता है तो मन उसे सताने लग जाता है। जव आदमी मे ज्ञान होता है तो मन उसके लिए साधक वन जाता है, उपयोगी वन जाता है, सताने वाली वात समाप्त हो जाती है।

ध्यान साधक को श्रुतज्ञान का अभ्यास भी करना चाहिए, आत्मज्ञान के विकास के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए। ज्ञान वहुत जरूरी है। ज्ञान के विना वात पूरी नही वनती। ज्ञान ही नही है तो मन को कैसे वश में किया जा सकेगा ? मन को एकाग्र किया जा सकता है, उसकी चचलता को नही मिटाया जा सकता। एकाग्र का मतलव अचचल नही है। उसका अर्थ है चचल तो है पर एक विषय पर चचल वना हुआ है, केवल एक विषय पर काम कर रहा है।

एकाग्रता का प्रतिपक्षी है—विक्षेप। इसका अर्थ है—मन भटकता रहता है। अभी इस विपय पर गया और अभी उस विपय पर चला गया। एक विषय पर नही टिकता। मन को एक स्थान पर टिकाने का साधन है—श्रुतज्ञान। यह एक ऐसी लगाम है कि इसके सहारे मन को जहां चाहो वहां टिका दो। चाहो तो मन को अगुली के सिरे पर टिका दो या अंगूठे के सिरे पर टिका दो। चाहो तो उसको ज्योतिकेन्द्र पर टिका दो और चाहो तो उसे तैजस केन्द्र पर टिका दो। जहां चाहो वहां टिका दो और वही उसे काम करने दो। यह शक्ति आती है—अभ्यास के द्वारा। श्रुतज्ञान बहुत आवश्यक है, बडा आलंबन है।

महाराज भरत चक्रवर्ती थे। वहुत बडा साम्राज्य और वहुत बडी व्यवस्थाएं। एक दिन सोचा—यह सारा राजकाज चल रहा है। सारे साम्राज्य का सचालन हो रहा है, पर कही मेरी आत्म-विस्मृति न हो जाए, मै अपने आपको भूल न जाऊ ?

यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। आदमी व्यापार-धधे में, परिवार में, सत्ता में और व्यवहार मे जाता है तो सबसे पहली बात होती है आत्म-विस्मृति। इसका अर्थ है—अपने आप को भूल जाना। यह सबसे वड़ा खतरा है। जो व्यक्ति दूसरे मे फंसकर अपने आपको भूल जाता है, वह सचमुच खतरे मे पड़ जाता है। वह अपने आपको समझ ही नही पाता, पढ़ ही नही पाता। बड़ी कठिनाई होती है।

आचार्य भिक्षु ने एक मार्मिक घटना लिखी है—कुछ महिलाएं मिली। बात-चीत शुरू हुई। उन्होने चर्चा का विषय अपने-अपने पति को चुना। वे अपने-अपने पति की चर्चा करने लगी।

एक ने कहा—क्या बताऊं, मेरा पति बडा विचित्र है। उसके विपय मे न वताऊं तो ही अच्छा है। वह न पढना जानता और न लिखना। और कभी-कभार कुछ लिखता है तो दूसरा उसे पढ ही नही पाता।

दूसरी बोली—बस, इतनी-सी बात है। मै समझती हूं तुम्हे तो अच्छा पति मिला है। मेरे पति की राम-कहानी सुनो। वह लिखता है पर उसे स्वयं भी नही पढ पाता। बडी विकट स्थिति है।

कितने लोग है जो अपना लिखा स्वयं पढ लेते है। धार्मिकों में भी ऐसे लोग अधिक है जो स्वयं का लिखा स्वय नही पढ पाते। 'मैं कौन हूं'—नही पढ पाते। मै कहां हूं'—नही पढ़ पाते। मेरा कर्त्तव्य क्या है और मुझे कहां वढना है—नही पढ पाते। अनपढ लोगो की संख्या से भी ऐसे लोगों की संख्या अधिक है।

आत्म विस्मृति अत्यन्त भयंकर वात है।

सम्राट् भरत ने सोचा—मुझे इतना वडा साम्राज्य, इतना वैभव,

इतना ठाटबाट, इतनी सेना, इतनी सामग्री—यह सब कुछ मिला है। इनके बीच में रहते हुए, कही ऐसा न हो कि मै अपने आपको भूल जाऊं।

कितना महत्त्वपूर्ण चिंतन है यह। जिस व्यक्ति के मन में ऐसा चिंतन जाग जाता है वह व्यक्ति कमलपत्रवत् निर्लिप्त रह सकता है। जैसे कमल पानी मे होते हुए भी पानी से अस्पृष्ट रहता है, वैसे ही वह संसार की सारी सुविधाओ में रहता हुआ, भोगता हुआ भी कीचड़ से लिप्त नही होता।

सम्राट् के मन मे चिंतन जागा, सोचा, अब क्या करना चाहिए? सोचते-सोचते एक बात ध्यान मे आई कि श्रुतज्ञान की लगाम हाथ मे लेनी चाहिए। उन्होने तत्काल अमात्य को बुलाकर कहा—'मुझे प्रतिदिन प्रातःकाल जगाने वाले मगलपाठकों को बुलाओ।' मंगलपाठक आए। सम्राट् ने कहा—तुम रोज मुझे शुभाशीर्वचनो से जगाते हो, अनेक प्रकार की वाद्य-ध्वनि से मुझे जागृत करते हो। आज से अन्यान्य शुभाशीर्वचनों के साथ-साथ 'वर्धते भय, 'वर्धतेभयं'—भय बढ़ रहा है, भय बढ़ रहा है, ये वचन भी बोला करो। इन शब्दों की ध्वनि मेरे कानों से रोज गूजनी चाहिए।'

मगलपाठको ने वैसा करना प्रारम्भ कर दिया और अब सूर्योदय के साथ-साथ जागरण की वेला मे सम्राट् के कानो मे यह ध्वनि पडने लगी—वर्धते भयं, वर्धते भय—भय बढ़ रहा है, भय वढ रहा है। इन शब्दो को सुनते ही सम्राट् के मन मे एक चितन उभरता कि यह भय मुझे घेर न ले, इसलिए मुझे अधिक से अधिक अप्रमत्त रहना चाहिए। जब चारो ओर भय वृद्धिगत हो रहा है तब मै प्रमत्त क्यो वना रहूं?

जव आदमी को सुख,सुविधा अधिक मिलती है तव भय चारो ओर से वढता है—ऊपर-नीचे से भय, दाए-वाएं से भय, आगे-पीछे से भय—सर्वत्र भय ही भय। जो व्यक्ति सावधान नही होता, अप्रमत्त नही होता, जागरूक नही होता, उसे भय दवोच लेता है। जो जागृत होता है, उसके पास भय आता है और टकराकर चला जाता है। उस जागरूकता के कवच को भेदकर भय अन्दर नही घुस पाता। क्योकि जागरूकता का कवच इतना शक्तिशाली होता है कि उसको चीर कर कोई चीज अन्दर नही जा सकती। चीज उसके पास जाती है, टकरा कर चली जाती है। इस स्वर-लहरी ने भरत को वचाया।

एक वार भगवान् ऋषभ अयोध्या मे आए। लोगो ने पूछा—क्या भरत मोक्ष जाएगा? भगवान् ने कहा—'हां, इस जन्म में वह मोक्ष जाएगा। लोग वोले—भगवन्! वात समझ मे नही आई। भरत चक्रवर्ती है। वहुत वडे सम्राट् है। इन्होने अनेक युद्ध लड़े हैं। इनके आरभ-समारंभ का पार नहीं है। इन्होने अनेक राज्य छीन कर अपने राज्य मे मिलाए हैं, सवको अपने अधीन वना रखा है। इतने वडे साम्राज्य का अधिपति, कार्य-सचालक

और फिर भी मोक्ष जाएगा ? बड़ी पहेली है। यदि भरत जैसे आरंभी व्यक्ति मोक्ष जाएंगे तो भटक कौन जाएगा ? तब तो हम सारे के सारे मोक्ष जाने वाले ही है।

सभी लोग अपनी-अपनी भूमिका से सोचते है। चितन का अपना स्तर होता है। भगवान् ऋषभ जिस भूमिका पर स्थित होकर बात कह रहे थे, वह भूमिका दूसरी थी। पर सामान्य आदमी उस भूमिका पर जा नही सकता। आलोचना इसलिए होती है कि कहने वाले का स्तर कुछ दूसरा होता है और सुनने वाले का स्तर उससे भिन्न होता है। कहने वाले के स्वर को वह नही पकड़ पाता, इसलिए बात जंचती नही और उसका परिणाम है आलोचना। यह आलोचना का सीधा-सा गणित है। आलोचना करने वाला कोई नही है। उसे दोष क्यो दिया जाए ? वह बेचारा समझ नही पा रहा है, इसीलिए तो आलोचना करता है।

भरत की साधना चली। एक दिन वे काच-महल मे बैठे थे। काच की ओर ध्यान चला गया। कांच मे अपना प्रतिबिम्ब देखा। 'अप्पाणं देहेमाणे अप्पाणं देहेमाणे'—अपने शरीर की प्रेक्षा करने लगे। शरीर को देखना शुरू किया, शरीर में होने वाले परिवर्तन की प्रेक्षा की, कर्मशरीर की प्रेक्षा तक पहुचे। आगे बढ़ते गए। और आगे बढ़े। एक क्षण आया कि उस प्रेक्षा से उन्हे केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई। काच महल में वे एक सम्राट् के रूप मे घुसे थे और बाहर निकले एक केवलज्ञानी के रूप मे।

प्रेक्षा-ध्यान के शिविरों मे अभ्यास करने वाले ध्यान साधक सोच सकते है कि तुलसी अध्यात्म नीडम् मे घुसे तब एक साधक के रूप में घुसे थे और जब शिविर को सपन्न कर नीडम् से बाहर निकलेगे तब केवली होकर निकलेगे। ऐसा चिंतन आ सकता है और यह कोई बुरा भी नही है किन्तु थोड़ा-सा अन्तर है। अभी तक आपने 'वर्धते भयं' वाली स्वर-लहरी सुनी नही है। भरत रोज सुनता था। जब यह स्वर-लहरी आपके कानो मे प्रतिध्वनित होती रहेगी चारो ओर से भय बढ़ रहा है, चारो ओर भय ही भय है—और जब यह स्वर आत्मसात् हो जाएगा और आप अभय के टापू की खोज मे निकल पडेगे तब फिर नीडम् मे बैठे-बैठे आपको भी केवलज्ञान मिल सकता है। कोई अपवाद नही है। भरत सम्राट् कोई अपवाद नहीं था। भरत को भी केवलज्ञान हो सकता है। पर आवश्यकता है कि श्रुतज्ञान की यह स्वर-लहरी कानो से टकरानी चाहिए। प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा होनी चाहिए।

प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा—ये दो प्रणालियां है, प्रयोग है। दोनो साथ-साथ चलते है। प्रेक्षा का प्रयोग है—अपने आपको देखना, अपने आपको जानना और अनुप्रेक्षा का प्रयोग है—जो सचाइयां उपलब्ध हुई है, उनका बार-बार अनुचिन्तन करना, स्मृति करना, निश्चय करना, निर्णय करना और चिन्तन को

अपना आज्ञाकारी सेवक बनाएं। जो मन मे आया, वह करने वाला मन का दास होता है। समझदार आदमी वह होता है, जो मन में आया, उस पर चिन्तन किया कि यह करना चाहिए कि नही, पूरे चिन्तन के बाद जब यह निर्णय हो जाए कि वैसा करना उचित है तो मन की बात भी मानी जा सकती है। इसका अर्थ होगा कि हमारे हाथ में घोड़े की लगाम है और हम उसे चला रहे हैं। हमारे से अलग घोडा नही चल रहा है। जब लगाम हाथ से छूट जाती है तब आदमी व्यामोह में फंस जाता है।

दो मित्र थे। दोनों में प्रगाढ़ मित्रता थी। एक दिन दोनों मित्रभाव मे इतने भावविभोर हो गए कि दोनों एक स्वर में बोल उठे—'हमें यह संकल्प करना चाहिए कि हम कहीं रहे, एक-दूसरे को नही भूलेगे।' दोनो संकल्पबद्ध हो गए।

ऐसा अवसर आया कि एक मित्र बाहर नौकरी के लिए चला गया और एक गाव मे ही रह गया। उसे अच्छी नौकरी मिली, ऊंचा पद मिला। उसने खूब धन कमाया। बड़ा आदमी बन गया। अब आलीशान मकान में रहने लगा।

एक बार गांव का मित्र उसी शहर मे आ गया। पूछते-पूछते वह अपने मित्र की कोठी पर आ पहुंचा और ऊपर के कमरे मे मित्र के समक्ष जा खड़ा हो गया। उस धनी मित्र ने मन ही मन उसे पहचान लिया, पर न पहचानने का बहाना कर दृष्टि नीचे कर ली। गांव के मित्र ने जान लिया कि सकल्प टूट गया है। यह बदल गया है। उसने पूछ ही लिया—मित्र! नही पहचाना मुझे?'

'अरे! कौन हो तुम? क्यों आए हो यहां?' उस धनी मित्र ने पूछा।

उसने कहा—'मै अमुक गांव से आया हूं और मेरा नाम यह है। मैंने सुना था कि मेरा मित्र अन्धा हो गया है, इसलिए उसे देखने आया हूं।'

उस धनी मित्र ने सोचा, कितना बेहुदा आदमी है। मुझे लोगो के सामने अन्धा कह रहा है। उसने कहा—'चले जाओ, मैं तुम्हें नही जानता।'

गांव वाला मित्र बोला—मैं जा ही रहा हूं। एक क्षण भी नही ठहरूंगा। मैंने जो सुना था कि मेरा प्रिय मित्र अन्धा हो गया है और आज मैंने साक्षात् देख लिया कि मेरा मित्र सचमुच अन्धा हो गया है। मैं ऐसे मित्र के पास रहकर स्वयं अन्धा बनना नही चाहता। मैं जा रहा हूं'—यह कहकर वह चला गया।

जब श्रुत की लगाम हाथ से छूट जाती है तब आदमी आंखों वाला होते हुए भी अन्धा बन जाता है। मन की स्थिति विचित्र बन जाती है। उसकी भूमिका भी भिन्न हो जाती है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि

११
अनुराग और विराग

हर मनुष्य दो धाराओ के बीच जी रहा है। एक है अनुराग की धारा और दूसरी है विराग की धारा। राग और विराग—ये दो पक्ष हैं हमारे जीवन के। दोनों चलते है। कभी राग और कभी विराग। अध्यात्म के क्षेत्र मे प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि राग कम हो, विराग बढे। विराग या वैराग्य अध्यात्म का शिरोमणि तत्त्व है। जिसमें वैराग्य नही होता, वह अध्यात्म की साधना नही कर सकता। आध्यात्मिक वही हो सकता है जिसमें वैराग्य हो। प्रश्न है, राग कम कैसे हो और वैराग्य कैसे बढ़े ? इसके लिए कोई उपाय या साधना की प्रणाली चाहिए।

एक उपाय निर्दिष्ट किया गया कि जब आत्मा में अनुराग होता है, परमात्मा में अनुराग होता है, वीतरागता मे अनुराग होता है तो विराग—वैराग्य अपने आप बढ़ जाता है। आकर्षण एक दिशा में जाता है। जिसका आकर्षण विषय के प्रति होगा, स्वार्थ के प्रति होगा, उसमें राग बढ़ेगा। जिसका आकर्षण चैतन्य के प्रति होगा, आत्मा या परमात्मा के प्रति होगा, धर्म के प्रति होगा, उसमें वैराग्य बढ़ेगा। आकर्षण एक दिशा में होता है, दो दिशाओं में एक साथ आकर्षण नही हो सकता। जिस व्यक्ति का मन परम आत्मा में, लीन हो गया, वही है वैराग्य।

आचार्य भिक्षु समाधि-मरण के निकट थे। ऐसा लग रहा था कि अब शीघ्र ही उनका समाधि-मरण होने वाला है। उस समय उनके महान् शिष्य मुनि खेतसीजी ने आकर कहा—'अब तो आप हम सब को छोड़कर स्वर्ग पधार रहे हैं।' आचार्य भिक्षु ने तपाक से उत्तर दिया—किसको चाहिए स्वर्ग ? मुझे स्वर्ग की कामना नहीं है। मुझे मोक्ष चाहिए, स्वर्ग नही। सुनो, तुम सबको मैं एक बात यह कहना चाहता हूं कि जब तक मन स्वर्ग और सुख मे अटका रहेगा, तब तक परमपद—मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकेगी। जिसका मन परमपद में लीन हो गया, उसमें पौद्‌गलिक सुखो के प्रति अपने आप वितृष्णा हो जाती है, वैराग्य हो जाता है। वैराग्य करने से नही आता। हम कितना ही प्रयत्न क्यो न करें। कितना ही क्यों न सोचें, वैराग्य नही आएगा जब तक कि हमारी आकर्षण की धारा नही बदल जाती। यदि व्यक्ति में खाने का, देखने का, सुनने का आकर्षण है, इन्द्रियो के आकर्षण से मन भरा

हैं। ये सारी समस्याओ के जनक हैं। आदमी इसीलिए समस्याओं से आक्रांत है कि वह एक जगत् के अनुभव मे जी रहा है, दूसरे जगत् का उसे अनुभव ही नही है। यदि इन्द्रिय जगत् और इन्द्रियातीत जगत्—इन दोनों मे आदमी जीना सीख लेता है तो अनेक सम्स्याए अपने आप सुलझ जाती है।

अध्यात्म का विषय नया है। इसके विषय मे हम सुनते है किन्तु 'इन्द्रियातीत जगत् मे जीना' यह बिलकुल नई भाषा है। इस भाषा को भी हमे समझना है। जब तक हम इन्द्रिय जगत् मे ही जीते रहेगे तो काम नही बनेगा। जो लोग सृजनात्मक विचार—क्षमा, सहिष्णुता, प्रेममय वातारण का सृजन करना चाहते है, उन्हे इन्द्रियातीत जगत् मे जीना ही होगा। जो इन्द्रियातीत जगत् मे जीते है वे ही सृजनात्मक विचारों को जन्म दे सकते है।

इस शताब्दी का महान् बौद्धिक अलबर्ट आइंस्टीन महान् वैज्ञानिक था। उसकी पत्नी बहुत क्रोधी स्वभाव की थी। पता नही यह कैसा संयोग है कि पति शांत होता है तो उसे पत्नी तेज-तर्रार मिलती है और पति तेज होता है तो पत्नी शान्त मिलती है। दोनों शान्त हो, यह कम संयोग मिलता है।

आइस्टीन की पत्नी ने आकर आइस्टीन से कहा—लोगो से सुना है कि तुम बहुत बडे आविष्कारक हो। तुम निरतर नई-नई खोज करते रहते हो। इतनी खोजे करते हो तो मेरे लिए एक नौकर की खोज भी करो, जो मेरा काम कर सके। आइंस्टीन बोला—नौकर खोजने की क्या जरूरत है? जो एक नौकर है, उसी से काम लिया करो। वह बोली—तुम नही जानते। वह बहुत खराब आदमी है, आलसी और झूठा है। वह मेरा अनुशासन मानता ही नही। आइंस्टीन बोला—तुम्हारा कहना ठीक है। वह ऐसा ही है।

नौकर सारी बात सुन रहा था। ज्योंही आइंस्टीन की पत्नी गई, वह आकर बोला—सर! आपकी पत्नी बहुत तेज है। दिन भर काम मे लगा रहता हूं, पर यह टिकने नही देती। वह 'थेक्यू' कहना जानती ही नही। दिन भर नाराज रहती है। गुस्सा बहुत करती है।' आइंस्टीन ने कहा—तुम जो कह रहे हो, वह ठीक है।

पत्नी ने नौकर की बात सुन ली। उसका पारा चढ़ा। वह बोली—कैसा पति मिला है। बेवकूफ है। लोग कहते है—वैज्ञानिक है आइंस्टीन। पर यह कैसा वैज्ञानिक! जानता ही नही कुछ भी। मैंने आकर शिकायत की तो मुझे कह दिया कि तुम जो कह रही हो वह ठीक है। नौकर ने आकर मेरे विपरीत कहा तो उसे भी कह दिया, तुम सही हो।

वह आवेश में आइंस्टीन के पास आकर बोली—'यह क्या बेवकूफी की तुमने?'

आइंस्टीन बोला—तुमने कहा वह भी सही, नौकर ने कहा वह भी

सही और जो मैं कहता हूं वह भी सही है ।

सब हस पड़े । पत्नी का गुस्सा काफूर हो गया ।

ऐसा प्रेममय वातावरण बनाना आग में से पानी निकालने जैसा है । आग को बुझाना नही, आग को पानी बना देना है । पानी आग को बुझा देता है, पर यह कोई बड़ी बात नही है । आग को पानी बना देना यह बडी बात है और यह वही व्यक्ति कर सकता है जो इन्द्रियातीत जगत् में जीता है, जिसकी चेतना इन्द्रियातीत बन जाती है ।

आइंस्टीन कोरा वैज्ञानिक नही था । वह बडा साधक था । वह अध्यात्म की गहराई में पहुंचा हुआ व्यक्ति था । आत्मा और परमात्मा के प्रति उसकी इतनी गहरी निष्ठा थी कि वह दार्शनिक वैज्ञानिक ही नही, धार्मिक वैज्ञानिक भी था ।

जो व्यक्ति धार्मिक होता है, जिसकी धार्मिक चेतना जाग जाती है, जिसकी आध्यात्मिक चेतना जाग जाती है, वह इन्द्रियातीत जगत् मे जीना प्रारम्भ कर देता है । इन्द्रिय जगत् में जीने वाला व्यक्ति आइंस्टीन जैसा व्यव हार नही कर सकता ।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग इन्द्रियातीत जगत् मे जीने का प्रयोग है । लोग ध्यान करते है—इतनी गर्मी है, मक्खियां है, पसीना वहने लगता है । पूछने पर कहते है—आनन्द आ रहा है । क्या यह इन्द्रिय जगत् की घटना है ? नही । यह तभी सभव है कि इन्द्रिय जगत् से हटकर दूसरे जगत् को देखने का सकल्प है, प्रयत्न है । अभ्यास है । ध्यान करने वाले कहते है—ध्यान मे वड़ा आनन्द आता है । क्या आप वातानुकूलित मकान मे बैठे है कि आपको आनन्द आ रहा है । क्या आपको लाख-पचास हजार रुपये मिले है कि आपको आनन्द का अनुभव हो रहा है ? आनन्द किससे आ रहा है ? केवल आंखे वन्द कर भीतर देख रहे है, फिर आनन्द कहा से आ रहा है ? न आंखों के सामने सुन्दर रूप है, न कानो के लिए प्रिय संगीत है, न जीभ के लिए मनोज्ञ भोजन है, फिर आनन्द कैसा ? यह भी एक नया अनुभव है कि इन्द्रिय जगत् से परे भी आनन्द है और वह आनन्द इससे शत-सहस्रगुणित है । इन्द्रियो के विषय भोगने से मिलने वाला आनन्द क्षण भर के लिए आनन्द लगता है, फिर दूसरे ही क्षण नीरस लगने लग जाता है । मिठाई खाना प्रिय लगता है । पर खाते जाओ, खाते जाओ, मिठाई से ऊब आ जाएगी, घृणा हो जाएगी । प्रत्येक पदार्थ-भोग की यही प्रकृति है । प्रारम्भ मे अच्छा और परि-भोग के वाद नीरस ।

इन्द्रियातीत जगत् की यह प्रकृति नही है । प्रारम्भ मे कुछ कठि आती है, फिर ज्यों-ज्यों आगे वढ़ा जाता है आनन्द भी वढता जा। साधक उस आनन्दानुभूति से ऊवता नही । वहां आनन्द इसलिए व[illegible]

वहां आनन्द का अजस्र स्रोत बह रहा है। जिसे एक बार भी इस स्रोत की अवस्थिति ज्ञात हो जाती है, वह फिर इसे पाने छटपटाता है और इसे प्राप्त करके ही सांस लेता है। प्रत्येक ध्यान-साधक को इन्द्रियातीत चेतना का अनुभव हुए बिना नही रहता है। हां, इसमें मात्रा-भेद रह सकता है।

एक साधक के पास एक नया चेला आया। कुछ दिनों बाद बोला—'गुरुदेव! आप सदा आनन्दित रहते है। विपरीत स्थिति में भी आप दु.खी नही होते। ऐसा क्यों होता है? यह आनन्द आता कहां से है? मुझे तो इतना आनन्द नही आता।' गुरु बोले—'अभी-अभी आए हो। साधना करो आनन्द आने लगेगा।' वह बोला—'नही, जब आपको इतना आनन्द आता है तो मुझे भी आना चाहिए। आनन्द कभी आता है, कभी नही, ऐसा क्यो? गुरु ने कहा—'जाओ, पास में गंगा नदी बह रही है, उसमें से एक लोटा पानी ले आओ।' वह गया, लोटा भर पानी ले आया। उसने पूछा—"गुरुदेव! अब क्या करूं?' गुरु बोले—'इसमें नाव चलाओ।' वह बोला—'इसमे नाव कैसे चलेगी?' गुरु बोले—'जब गंगा के पानी में नाव चल सकती है तो यह भी तो गंगा का ही पानी है, फिर इसमे नाव क्यो नही चलेगी?' चेला बोला—'समझा नही।' गुरु ने कहा—'गंगा में विशाल पानी है, वहां नाव चल सकती है। लोटे में समाया हुआ पानी थोडा है, लोटे मे नाव नही चल सकती।' इस प्रकार तुमने अभी एक लोटा भरा है और मेरे भीतर गगा का स्रोत बह रहा है, निरन्तर आनन्द की धारा बह रही है। अभी तुम्हारे पास कोरा लोटा आया है। जिस दिन यह लोटा टूटेगा, सीमा टूटेगी, अथाह पानी बनेगा तब तुम्हारे भीतर भी गंगा बहने लग जाएगी, नौका तैरने लग जाएगी।

हर व्यक्ति के भीतर गगा का प्रवाह हो सकता है और है भी। यदि हम मुड़कर चले और अपनी चेतना को इन्द्रियातीत चेतना से जोड दे तो वह प्रवाह चालू हो जाएगा। सैकड़ो समस्याओं का समाधान है—इन्द्रिय जगत् से हटकर इन्द्रियातीत जगत् में भ्रमण करना।

पांच इंद्रिया है। पाच इन्द्रिय-विपय है। इनसे हटकर जीना ही वास्तव में आनन्द का जीवन जीना है। अशब्द, अरूप और अगध होकर जीना वास्तव मे बहुत बडा अनुभव है। जो व्यक्ति इन्द्रिय जगत् में जीता है उसमे काम, लालसा, वासना, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, घृणा, ईर्ष्या आदि जितने निपेधात्मक भाव है, जितना नेगेटिव थिंकिग है, वे सारे के सारे उसमे होते है। जो व्यक्ति इन्द्रियातीत जगत् मे जीना शुरू करता है वह वैराग्य का जीवन जीता है। एक ही वात है, इन्द्रियातीत जीवन जीने का तात्पर्य है वैराग्य का जीवन जीना और वैराग्य का जीवन जीने का तात्पर्य है—इन्द्रियातीत चेतना में रहना। उस व्यक्ति में आत्मज्ञान का अकुर फूटता है।

हर कोई व्यक्ति मे आत्मज्ञान नही आता। उस व्यक्ति में आत्मज्ञान आता है जो इन्द्रियातीत जीवन जीता है। उसी मे विधायक भाव उत्पन्न होते है। उसी मे अहिंसा और सत्य का भाव, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का भाव, क्षमा, सहिष्णुता, प्रेम आदि सारे सृजनात्मक विचार पल्लवित और पुष्पित होते है।

राजगृह में एक कसाई रहता था। उसका नाम था कालसौकरिक। उसके वहां प्रतिदिन पांच सौ भैंसे मारे जाते थे। मांस का बडा व्यापारी था। उसके एकाकी पुत्र का नाम था सुलस कुमार। योग ऐसा मिला कि उस पर भगवान् महावीर के प्रवचन की छाप लग गई और वह परम्परागत व्यवसाय से विमुख हो इन्द्रियातीत जीवन जीने लगा। कालसौकरिक मर गया। उसका उत्तराधिकारी था सुलस कुमार। उस कुल की यह परम्परा थी कि बडे पुत्र के अभिषेक के अवसर पर एक भैंसे की बलि दी जाती और फिर उस पुत्र को तिलक लगाया जाता उस भैंसे के रक्त का। एक दिन निश्चय हुआ। परिवार के सारे सदस्य एकत्रित हुए। सुलस कुमार के हाथ मे तलवार देकर कहा—'अभी-अभी परिवार के मुखिया के रूप मे तुम्हारा अभिषेक होगा, इसलिए इस तलवार के वार से भैंसे को मारो। फिर उसके रक्त से तुम अभिषिक्त होगे।' सुलस कुमार ने सुना। वह प्राणीवध कैसे कर सकता था? उसकी दुनिया बदल गई थी। जिसने इन्द्रिय जगत् से हटकर इन्द्रियातीत जगत् का अनुभव कर लिया था। अब उसके लिए मारना संभव नही रहा। उसको स्वय में और भैंसे मे एक ही चैतन्य का अनुभव होने लगा। वह कुछ समय इधर-उधर देखता रहा। पीछे से आवाज आई—मुहूर्त्त टल रहा है, शीघ्रता करो। अभिषेक करना है। परिवार का मुखिया बनना है। भैंसे की बलि देकर कार्य संपन्न करो।

सुलस कुमार देखता रहा। उससे वार हो नही सका। लोगो ने कहा—यह महान् कसाई कालसौकरिक का उत्तराधिकारी बनने के योग्य नही है।

यह सही है, इन्द्रिय जगत् के लिए इन्द्रियातीत जीवन जीने वाला व्यक्ति अयोग्य हो जाता है। दुनिया की ये दो भिन्न धाराएं है।

हम इस बात का अनुभव करे कि प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग अनुराग पैदा करता है। 'अनुरागात् विराग:'—इन्द्रियातीत जगत् के साथ अनुराग होने से इन्द्रिय जगत् के प्रति स्वत. विराग घटित हो जाएगा। यह विराग को प्राप्त करने की प्रक्रिया है।

वहा आनन्द का अजस्र स्रोत बह रहा है। जिसे एक बा
अवस्थिति ज्ञात हो जाती है, वह फिर इसे पाने छटपटात
करके ही सास लेता है। प्रत्येक ध्यान-साधक को इन्द्रिय
अनुभव हुए बिना नही रहता है। हा, इसमे मात्रा-भेद रह

एक साधक के पास एक नया चेला आया। कुछ ि
'गुरुदेव ! आप सदा आनन्दित रहते है। विपरीत स्थिति
नही होते। ऐसा क्यों होता है ? यह आनन्द आता कह
इतना आनन्द नही आता।' गुरु बोले—'अभी-अभी आए
आनन्द आने लगेगा।' वह बोला—'नही, जब आपको इतन
तो मुझे भी आना चाहिए। आनन्द कभी आता है, कभी
गुरु ने कहा—'जाओ, पास में गंगा नदी बह रही है,
पानी ले आओ।' वह गया, लोटा भर पानी ले आय
"गुरुदेव ! अब क्या करूं ?' गुरु बोले—'इसमें नाव चलाअ
'इसमे नाव कैसे चलेगी ?' गुरु बोले—'जब गंगा के पानी
है तो यह भी तो गगा का ही पानी है, फिर इसमे नाव
चेला बोला—'समझा नही।' गुरु ने कहा—'गंगा में वि
नाव चल सकती है। लोटे मे समाया हुआ पानी थोडा है,
चल सकती।' इस प्रकार तुमने अभी एक लोटा भरा है औ
का स्रोत बह रहा है, निरन्तर आनन्द की धारा बह रही है
पास कोरा लोटा आया है। जिस दिन यह लोटा टूटेगा, सीम
पानी बनेगा तब तुम्हारे भीतर भी गगा बहने लग जाएगी,
जाएगी।

हर व्यक्ति के भीतर गगा का प्रवाह हो सकता है और
हम मुडकर चले और अपनी चेतना को इन्द्रियातीत चेतना से
प्रवाह चालू हो जाएगा। सैकडों समस्याओं का समाधान है—इ
हटकर इन्द्रियातीत जगत् में भ्रमण करना।

पाच इंद्रियां है। पांच इन्द्रिय-विषय है। इनसे हट
वास्तव में आनन्द का जीवन जीना है। अशब्द, अरूप और अगंध
वास्तव मे बहुत बडा अनुभव है। जो व्यक्ति इन्द्रिय जगत् मे ज
काम, लालसा, वासना, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, घृणा, ईर्ष्या
निषेधात्मक भाव है, जितना नेगेटिव थिंकिंग है, वे सारे के सा
है। जो व्यक्ति इन्द्रियातीत जगत् मे जीना शुरू करता है व
जीवन जीता है। एक ही बात है, इन्द्रियातीत जीवन जीने
वैराग्य का जीवन जीना और वैराग्य का जीवन जीने का
इन्द्रियातीत चेतना में रहना। उस व्यक्ति में आत्मज्ञान का अंकु

जानते और हमारी शक्ति में हमे भरोसा नही है। यदि आदमी अपना भरोसा स्वयं खो बैठता है तो दुनिया में ऐसा कोई भगवान् नही कि उसे चला सके।

चोर मंदिर में घुस गया था। उसे देवी ने कहा—तुम किवाड बन्द कर दो, हल्ला करो। मेरी मूर्ति के पीछे आकर बैठ जाओ। वह बोला—माता! मैं तो कुछ भी नही कर सकता। पैर जम गए है। देवी ने क्या उत्तर दिया, आपने सुना होगा। देवी ने यही कहा—ऐसे दीन, हीन और क्लीव आदमी की सहायता तो मैं भी नही कर सकती।

जिसे अपनी शक्ति पर भरोसा नही होता, अपनी शक्ति को नही जानता, उसकी सहायता भगवान् भी नही कर सकता और कोई देवता भी नही कर सकता। सबसे बड़ी बात है अपनी शक्ति का अनुभव करना। हम सबसे पहले यह अनुभव करे कि हमारे भीतर असीम शक्ति है। हम स्वयं शक्तिशाली है।

चाकू है, चाकू की धार है। धार काट सकती है। काटने की शक्ति तो है चाकू की धार में, अब क्या करे? उसके द्वारा ऑपरेशन भी किया जा सकता है, कोई रचनात्मक काम भी किया जा सकता है और उसके द्वारा किसी को मारा भी जा सकता है। धार धार है, शक्ति शक्ति है। उपयोग दो हो जाते हैं। अगर काम करने की उपयोगिता है तो वह शक्ति सृजनात्मक हो जाती है और किसी को सताने की, मारने की उपयोगिता है तो वह शक्ति ध्वसात्मक हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति के ये दो रूप हमें दिखाई देते है—ध्वंसात्मक और सृजनात्मक। कोई आदमी अपनी शक्ति का उपयोग सृजन में करता है और कोई आदमी अपनी शक्ति का उपयोग ध्वंस में करता है। बहुत लोग दुनिया मे ऐसे है जो शक्तिशाली है। पर उनकी शक्ति का उपयोग केवल ध्वंस मे होता है। वे निर्माण की बात जानते ही नही। वे जानते है ध्वंस, ध्वंस और ध्वंस। इसी में सारी शक्ति खप जाती है। हमारी दुनिया में चोरों की कमी नहीं है। लुटेरों की कमी नहीं है। इस दुनिया में हत्या, अपराध करने वालों की कमी नहीं है। वे चोरी करने वाले, डाका डालने वाले और हत्या करने वाले लोग क्या शक्तिशाली नहीं है? शक्तिशाली तो है, बिना शक्ति के ये सारी बातें नहीं हो सकतीं। कमजोर आदमी कभी चोरी नहीं कर सकता।

१२
सृजनात्मक शक्ति

प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक पदार्थ शक्ति के साथ अपने अस्तित्व को बनाए हुए है। हमारे जगत् मे एक भी पदार्थ ऐसा नही है जिसमें शक्ति न हो। एक भी प्राणी ऐसा नही है जिसमे शक्ति न हो। चेतन और अचेतन सब मे शक्ति विद्यमान है। आत्मा में अनन्त शक्ति है तो एक परमाणु में भी अनन्त शक्ति है। शक्ति दोनो मे है। चेतना के साथ शक्ति बहुत उपयोगी बन जाती है और अचेतन की शक्ति उपयोगी होती है पर चेतन की तुलना मे नही आ सकती। चेतन जगत् शक्ति के साथ जीता है। प्रत्येक आदमी शक्तिशाली है। फिर भी कुछ लोगो की शिकायत है, और रहती है, क्या करे? हममें यह शक्ति नही है। अपने आपको अशक्त, अक्षम, कमजोर और दुर्बल अनुभव करते है। क्या शक्ति के होने पर भी इतनी अशक्ति की बात हो सकती है? संभव है, असंभव नही है। बहुत लोग अपनी शक्ति के बारे मे परिचित नही है और बहुत लोग अपनी शक्ति का उपयोग करना नही जानते। वे शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी अपने आपको कमजोर एव दुर्बल अनुभव करते है। शक्ति का अनुभव और शक्ति का उपयोग करना यह प्रेक्षा के द्वारा संभव हो सकता है। जब व्यक्ति अपनी प्रेक्षा करे तो उसे पता चल सकता है कि शक्ति का उपयोग किया जा सकता है। यह अपने शक्ति का अनुभव और उपयोग की बात ही ज्यादा कठिन है। शक्ति दुर्लभ नही है। दुर्लभ है उपयोग करना और उसका अनुभव करना। ध्यान करने का मतलब है अपनी शक्ति से परिचित होना, अपनी क्षमता से परिचित होना। जो आदमी अपने भीतर गहराई से नही देखता, वह अपनी शक्ति से परिचित नही होता। वह शक्ति होते हुए भी उसका अनुभव नही कर पाता। हमने देखा, एक आदमी खाट पर पडा है। वह अपने आपको बिलकुल दुर्बल अनुभव कर रहा है। इतना दुर्बल अनुभव करता है कि चल नही सकता। पैरो मे कोई ताकत नही। हाथो मे कोई ताकत नही, उठ नही सकता। किन्तु एक कोई कुशल उपचारक आया। एक मनोवैज्ञानिक आया। एक कोई साधक आया। उसने कोई ऐसा मन्त्र दिया कि तत्काल खाट छूट गई और पैरो मे ताकत आ गई। वह काम करने लगा और कमजोरी की बात को भूल गया। हम इस बात का अनुभव करे कि हमारे भीतर शक्ति तो बहुत है पर शक्ति का उपयोग करना हम नही

जानते और हमारी शक्ति मे हमे भरोसा नही है। यदि आदमी अपना भरोसा स्वयं खो बैठता है तो दुनिया में ऐसा कोई भगवान् नही कि उसे चला सके।

चोर मंदिर में घुस गया था। उसे देवी ने कहा—तुम किवाड़ बन्द कर दो, हल्ला करो। मेरी मूर्ति के पीछे आकर बैठ जाओ। वह बोला—माता ! मैं तो कुछ भी नही कर सकता। पैर जम गए है। देवी ने क्या उत्तर दिया, आपने सुना होगा। देवी ने यही कहा—ऐसे दीन, हीन और क्लीव आदमी की सहायता तो मैं भी नही कर सकती।

जिसे अपनी शक्ति पर भरोसा नही होता, अपनी शक्ति को नही जानता, उसकी सहायता भगवान् भी नही कर सकता और कोई देवता भी नही कर सकता। सबसे बड़ी बात है अपनी शक्ति का अनुभव करना। हम सबसे पहले यह अनुभव करे कि हमारे भीतर असीम शक्ति है। हम स्वयं शक्तिशाली है।

चाकू है, चाकू की धार है। धार काट सकती है। काटने की शक्ति तो है चाकू की धार में, अब क्या करे ? उसके द्वारा ऑपरेशन भी किया जा सकता है, कोई रचनात्मक काम भी किया जा सकता है और उसके द्वारा किसी को मारा भी जा सकता है। धार धार है, शक्ति शक्ति है। उपयोग दो हो जाते है। अगर काम करने की उपयोगिता है तो वह शक्ति सृजनात्मक हो जाती है और किसी को सताने की, मारने की उपयोगिता है तो वह शक्ति ध्वसात्मक हो जाती है।

प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति के ये दो रूप हमे दिखाई देते है—ध्वसात्मक और सृजनात्मक। कोई आदमी अपनी शक्ति का उपयोग सृजन मे करता है और कोई आदमी अपनी शक्ति का उपयोग ध्वंस मे करता है। बहुत लोग दुनिया मे ऐसे है जो शक्तिशाली है। पर उनकी शक्ति का उपयोग केवल ध्वस मे होता है। वे निर्माण की बात जानते ही नही। वे जानते हैं—ध्वस, ध्वस और ध्वस। इसी मे सारी शक्ति खप जाती है। हमारी दुनिया मे चोरो की कमी नही है। लुटेरो की कमी नही है। इस दुनिया में हत्या, अपराध करने वालो की कमी नही है। ये चोरी करने वाले, डकैती करने वाले और हत्या करने वाले लोग क्या शक्तिशाली नही है ? शक्तिशाली तो हैं, बिना शक्ति के ये सारी बाते नही हो सकती। कमजोर आदमी कभी चोरी नही कर सकता। कमजोर आदमी कभी डाकू नही बन सकता। कमजोर आदमी कभी हत्यारा नही बन सकता और कमजोर आदमी कभी अपराधी नही बन सकता। जो डरता है, कमजोर है, वह क्या चोरी करेगा, क्या डाका डालेगा। यदि चोरी करने जाएगा तो मार खाकर आएगा। अपराध कैसे हो सकता है ? बड़ा अपराध कमजोर आदमी नही कर सकता। बड़ा अपराध शक्तिशाली आदमी

ही कर सकता है। उसमे शक्ति तो है पर शक्ति का उपयोग केवल ध्वस मे हो रहा है, सृजनात्मक नही हो रहा है। दूसरी ओर हमारी दुनिया मे साधु पुरुषो की कमी नही है, दूसरो के लिए अपना निछावर करने वालो की कमी नही है, परोपकार और नि.स्वार्थ भाव से काम करने वालो की नही है, सहन करने वाले लोगो की भी कमी है। ऐसे-ऐसे सहन करने वाले लोग नही इस दुनिया मे हुए है और आज भी है कि हर वात को सह लेते है और अपने पर ले लेते है पर दूसरे को कोई भी नुकसान पहुचाना नही चाहते।

एक संन्यासी नदी में स्नान कर रहा था। उसने देखा कि पानी मे बिच्छु तडफ रहा है। उसने उसको पानी से निकाला। बिच्छू ने हाथ पर डक मार दिया। काफी दर्द हुआ। हाथ हिला और वह फिर पानी मे गिर गया। सन्यासी ने फिर उसे उठाया, उसने दुबारा काटा। तीसरी वार उठाने का प्रयत्न किया, तीसरी बार काटा। पास मे लोग खडे थे, बोले—'सन्यासीजी! क्यो मूर्खता कर रहे। तुम तो भलाई कर रहे हो, उपकार कर रहे हो और यह काटता जा रहा है।' सन्यासी बोला—'भाई! दुनिया मे किसी का काम डक मारना होता है तो किसी का काम डक झेलना होता है। जब यह अपना स्वभाव नही छोड़ता है तो मै अपना स्वभाव क्यो छोडू ?'

सृजनात्मकशक्ति और सृजनात्मक विचार करने वाले लोग भी दुनिया मे कम नही है। हमें इस प्रश्न पर विचार करना है कि इस सृजनात्मकता का विकास कब और कैसे होता है ? ध्वसात्मक शक्ति का उपयोग कव और कैसे होता है ? मनुष्य मे जितनी गहरी मूर्च्छा होती है उतना ध्वंसात्मक शक्ति का उपयोग होता है, प्रयोग होता है। जितनी जागृति होती है उतनी रचनात्मक शक्ति का उपयोग होता है, प्रयोग होता है। मूल प्रश्न है—मूर्च्छा और जागृति। मूर्च्छा के साथ ध्वस की भावना जागती है। हिंसा, लूट, चोरी, वासना, सग्रह—ये सारी वृत्तिया मूर्च्छा के साथ पैदा होती है और पनपती है। जब जागृति आती है तो ये सारी वाते समाप्त हो जाती है। अहिसा का विकास, सत्य का विकास, ब्रह्मचर्य का विकास—ये सारे के सारे जागृति के साथ पैदा होते हैं। पर प्रश्न है—जागृति कैसे आए ? मूर्च्छा का चक्र कैसे टूटे ? मूर्च्छा कैसे जाए और जागृति कैसे आए ? मूर्च्छा का जाना अच्छा लगता है और जागृति का आना अच्छा लगता है।

जैन परम्परा मे प्रचलित एक कहानी है। एक वार सेठ जिनदास के सामने दो शक्तिया आकर खडी हो गईं। वे परस्पर झगड रही थीं। सेठ ने देखा, दोनो देवियां-सी लगती है। उसने पूछा—आप दोनो कौन है ? मेरे यहां आने का प्रयोजन क्या है ? एक शक्ति ने कहा—मै लक्ष्मी हू। दूसरी बोली—मै दरिद्रता हूं, अलक्ष्मी हूं। दोनो में विवाद खडा हो गया। लक्ष्मी

कहती है—शक्तिशाली हूं और दरिद्रता कहती है—मै शक्तिशाली हूं । मै सर्वत्र व्याप्त हूं । लक्ष्मी तो कही-कही ढूढने पर मिलती है । हम दोनो स्वय को शक्तिशाली वता रही है । विवाद चरम सीमा पर पहुंच गया है । निपटारा नही हो रहा है । हमने सुना है—आप धार्मिक व्यक्ति है आप हमारा न्याय करे । पर एक वात का ध्यान रखे, यदि न्याय नही हुआ, कही पक्षपात किया गया तो जीवन भर पछताना पड़ेगा ।'

सेठ असमंजस मे पड गया । उसने सोचा—विना आमत्रित किए यह आपदा आ गई है । इसे बुद्धि-कौशल से निपटाना होगा । वह धार्मिक था, तत्त्ववेत्ता था, ज्ञानी था । उसने कुछ क्षण सोचकर कहा—'देवियो ! आप आ ही गई है, तो मै आपके विवाद का अन्त कर देता हू । आप एक काम करे । सामने आम का एक वृक्ष है । दोनो वारी-वारी से जाकर उसको छू आए ।'

एक एक कर दोनो गई । उस आम्र वृक्ष का स्पर्श कर आ गई । जिनदास ने कहा—दोनो अब आराम से बैठ जाए । मै अपना निर्णय सुना देता हू । सेठ ने लक्ष्मी को सम्बोधित कर कहा—'लक्ष्मी देवी ! आप जाती है तव अच्छी नही लगती, आती है तब अच्छी लगती है । दरिद्रता देवी ! आप जाती है तब अच्छी लगती है, आती है तब अच्छी नही लगती ।'

निर्णय सुनकर दोनों राजी हो गईं और सेठ जिनदास के न्याय की प्रशसा करती हुई चली गई ।

ये दो शक्तियां है—एक है सृजनात्मकशक्ति और दूसरी है ध्वसात्मक-शक्ति । दोनो के लिए कहा जा सकता है कि दोनो शक्तिया है । ध्वंसात्मक-शक्ति जाती हुई अच्छी लगती है, आती हुई अच्छी नही लगती । सृजनात्मक-शक्ति आती हुई अच्छी लगती है, जाती हुई अच्छी नही लगती । हमारी सृजनात्मकशक्ति का विकास हो । प्रेक्षा-ध्यान का सारा प्रयोग उस सृजनात्मक-शक्ति के विकास के लिए ह, मूर्च्छा टूटे, जागृति आए और सृजनात्मकशक्ति वढे । जितनी-जितनी जीवन में कामना, उतनी-उतनी ध्वसात्मकशक्ति । जितना-जितना जीवन मे निष्कामभाव, उतनी-उतनी सृजनात्मकशक्ति । दोनों का वरावर योग है । अव अगला प्रश्न फिर होगा कि सृजनात्मकशक्ति का विकास कैसे करे ? प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा कैसे करे ? इसका उपाय क्या है ? पहला प्रयोग कहां से शुरू करे ? पहला प्रयोग है श्वास प्रेक्षा, श्वास को देखना । सृजनात्मकशक्ति का महत्वपूर्ण उपाय है । दो वाते एक साथ होती है । एक श्वास दर्शन और साथ-साथ मे नासाग्र दर्शन, नाक का दर्शन । श्वास जव संतुलित होता है, लम्वा होता है, छोटा नही होता तो ध्वंसात्मकशक्ति अपने आप समाप्त हो जाती है । सृजनात्मकशक्ति के विकास का एक महत्त्व-पूर्ण उपाय है—लम्वाश्वास, दीर्घश्वास । जिस व्यक्ति ने दीर्घश्वास का अभ्यास कर लिया उसमे ध्वंसात्मकशक्ति का उदय नही हो सकता । कोई क्रोध

आएगा तो टकराकर निकल जायेगा। टिक नही पाएगा। हमारे शरीर मे अनेक अवयव है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनमे से एक नाक भी है। कान महत्त्वपूर्ण अवयव है। इनका महत्त्व ध्यान नही करने वाला व्यक्ति नही जान सकता। आपने पढा होगा कि चाहे जैन परम्परा में, हठयोग की परम्परा मे और तंत्र की परम्परा मे **'नासाग्र-न्यस्तदृष्टि'** का बड़ा महत्त्व बताया गया है। भगवान् महावीर की यह खास मुद्रा थी ध्यान की। आचार्य हेमचन्द्र नें लिखा है—प्रभो ! आपके ध्यान की मुद्रा भी दूसरे लोग नहीं समझते। आप ध्यान करते है नासाग्र पर तब अनिमेष नयन, अपलकदृष्टि नासाग्र पर टिकी हुई रहती है। यह मुद्रा अन्य लोग नही जानते।

नासाग्र का बडा महत्त्व रहा है। क्यों रहा है ? इस पर भी थोडा विचार करे। नृतत्वविद्या के अनुसार गधशक्ति आदमी को बहुत प्रभावित करती है। गंधशक्ति मानवीय विकास मे बहुत पुरानी है। यह पशु मे भी होती है और आदमी में भी होती है। पशु का गंध विषयक विकास ज्यादा है, आदमी का विकास अब कम हो गया। कुत्ते की कितनी तेज होती है गंध-शक्ति ? एक आदमी को सूघ लिया तो हजार कोस चला जाए वह आदमी, पर् कुत्ता उसे जाकर पकड लेगा। उसकी गधशक्ति तेज होती है। पशु मे गंध की शक्ति प्रबल होती है। आदमी मे भी गंध की शक्ति होती है और वह गंध को पकडता है सूक्ष्मता से। इस गंध के साथ योगशास्त्रीय दृष्टि से कई केन्द्र जुड़े हुए है। शक्तिकेन्द्र कामवासना का केन्द्र है। उसका गंध के साथ बहुत गहरा संबंध है। जिस व्यक्ति ने गध पर विजय पा ली उस व्यक्ति ने कामवासना पर विजय पा ली। जिस व्यक्ति ने गंध का अर्थ नही समझा, वह कामवासना को नही जीत सकता। जीभ और गध यानी रस और गंध—दोनो कामवासना के साथ बहुत गहराई से जुड़े हुए है। गंध का संबंध, नाक का संबंध हमारे दर्शनकेन्द्र से भी है। दर्शनकेन्द्र की सक्रियता मे इसका बडा योग होता है।

श्वास प्रेक्षा के साथ-साथ गंध का अनुभव और उसके साथ-साथ नासाग्र का दर्शन—ये तीन बातें अनायास हो जाती है। नासाग्र-दर्शन यानि नासाग्रप्रेक्षा, श्वासप्रेक्षा और गंध का अनुभव—ये तीनो सृजनात्मकशक्ति को विकसित करने वाली है। इनसे रचनात्मक शक्ति जागृत होती है। शक्ति के विकास मे बहुत सावधानी से काम लेना पड़ता है। ध्यान करने वाला व्यक्ति जागरूक होना चाहिए, क्योकि ध्यान एक शक्ति है। शक्ति जहां सृजनात्मक बनती है, वहां वह ध्वंसात्मक भी बन जाती है। इसलिए सावधानी बरतनी पडती है, कि उपयोग हमारा सही होना चाहिए। उपाय सही होना चाहिए। उपाय गलत होता है तो शक्ति का स्रोत बदल जाता है।

एक घटना सुनी होगी। एक व्यापारी भार लेकर जा रहा था। कुछ

घोडे थे, कुछ खच्चर थे और कुछ थे गधे। सब पर भार लदा था। एक घोड़े पर नमक की बोरियां लदी थी। रास्ते मे नदी आ गई। चलते-चलते घोड़े के मन मे आया कि पानी ठंडा है, इसका उपयोग करू। मन ललचा गया और वह पानी में बैठ गया। घोडा बैठ गया। ऊपर था नमक। अब क्या होगा नमक का? वह पानी में गलकर बह गया। घोड़ा भारहीन बन गया। गधे ने सोचा, यह तो बड़ा अच्छा उपाय है भारमुक्त होने का। सहज ही उपाय मिल गया। पर उसने यह नही सोचा कि उस पर कपास लदी है। गधे ने जैसे ही पानी में डूबकी लगाई कपास भीग गई और भार वढ़ गया। नदी के पानी से भार कम भी हो सकता है और भार वढ भी सकता है। पर यह देखना होगा कि ऊपर लदा हुआ क्या है। ऊपर नमक है या कपास है।

ध्यान करने वाले व्यक्ति को बहुत सावधान रहना होता है कि वृत्तियो का दवाव कितना है! इसकी जांच करनी होती है। वृत्तियो का दवाव ज्यादा होता है तो उसे संभलकर ध्यान से चलना चाहिए। एक साथ आगे नही वढना चाहिए। वृत्तियो का दबाव तो ज्यादा आ रहा है और एक साथ लंवा ध्यान कर वैठ गया तो उपयुक्त नही होता। वहा ध्यान की अपेक्षा आसन का प्रयोग, कायोत्सर्ग का प्रयोग या अनुप्रेक्षा का प्रयोग ज्यादा लाभदायी होता है। क्योंकि वृत्ति के सामने जव कोई संस्कार जागे, मन की चंचलता जागे और मन वहुत चंचल बन जाए उस समय मे ध्यान करने की वात वैठती नही। उस समय एक विचार के प्रति विचार, विकल्प के प्रति विकल्प और संस्कार के प्रति संस्कार की बात ज्यादा उपयुक्त वनती है। तो उस समय अनुप्रेक्षा या जप का प्रयोग करना चाहिए। अनुप्रेक्षा एक विचार है। श्वास-दर्शन कोई विचार नही है। अनुप्रेक्षा एक विचार है। अनित्यता का चिंतन, एकत्व का अनुचिन्तन, एकत्त्व अनुप्रेक्षा, अशरण अनुप्रेक्षा, अन्यत्व अनुप्रेक्षा यानी भेद-विज्ञान का अनुचिंतन—इन अनुप्रेक्षाओं का आलम्वन लेना ज्यादा उपयुक्त होता है। कुछ लोग या कुछ ध्यान पद्धतियो मे विचार करने को वर्जित किया जाता है। किन्तु प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति मे हमने सर्वांगीणदृष्टि से विचार किया है कि केवल देखना और केवल अनुभव करना यह सवके लिए पर्याप्त नही है। इसलिए इसमे आसन का प्रयोग भी होता है, प्राणायाम का प्रयोग भी होता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग भी होता है और प्रेक्षा का प्रयोग भी होता है। ये प्रयोग चलते हैं। जप का प्रयोग भी कराते हैं। जप चलता है। अब कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिनमें ध्यान करने की योग्यता सहज नही आती। व्यक्ति-व्यक्ति मे अन्तर होता है। सव लोगों को एक ही वटखड़ों से नही तोला जा सकता। सवको एक ही मीटर से नही नापा जा सकता। अलग-अलग वटखडे होते है और अलग-अलग नाप होते हैं। यदि एक ही तुला से तोलते होते हैं तो वडा खतरनाक होता है ध्यान के मार्ग में।

चेतना में बडा तारतम्य होता है । एक व्यक्ति की चेतना बहुत विकसित होती है और दूसरे व्यक्ति की चेतना बहुत कम विकसित होती है, तीसरे की उससे कम होती है । इतनी तरतमता और मात्रा का भेद है कि उसे समझे बिना एक ही प्रकार का रास्ता बता देना गलत बात हो जाती है । हो सकता है कि शिविर में किसी-किसी व्यक्ति को आसन का ही कोर्स दिया जाए । आसनो का अभ्यास करते-करते आगे क्षमता बढ़ सकती है । किसी व्यक्ति को केवल प्राणायाम का प्रयोग कराया जाए । जिस व्यक्ति मे तमोगुण ज्यादा है, जिस व्यक्ति मे कृष्णलेश्या के परिणाम तीव्र है, उसे ध्यान करने बिठा दिया जाए तो वह ध्यान क्या करेगा, वह तो उस कालसौकरिक की तरह बैठा-बैठा भैसे मारने का ही सकल्प करता रहेगा । कैसे ध्यान करेगा ? तीव्रतम लेश्या के परिणाम में ध्यान कैसे संभव होगा ? उस व्यक्ति को ध्यान मे न ले जाकर उसे जप का प्रयोग दे दिया जाए, उसे कहा जाए—भाई तुम जप करो । बैठे-बैठे जप करो । जैसे-जैसे जप के द्वारा तुम्हारे परिणामो की शुद्धि होगी, तुम्हारी भावनाएं, तुम्हारी वृत्तिया बदलेगी, वैसे-वैसे तुम्हारा अन्त करण पवित्र होगा और ध्यान की अर्हता तुम्हारे अन्दर आ जाएगी । भूमि वजर है तब बीज बोने का क्या अर्थ होगा । बंजर भूमि मे चाहे कितना ही पानी गिर जाए, कितनी ही वर्षा बरसे, उसमे बीज बोने का कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता । सबसे पहले भूमि को उर्वर बनाना जरूरी होता है । ध्यान के लिए भी चेतना को उर्वरा बनाना होता है कि ध्यान की अर्हता पैदा की जाए । कुछ लोग होते है । जो सहज ही उर्वर होते है । बहुत सारी भूमि उर्वर है । वंजर कम है । खेती उर्वर भूमि मे होती है । अब उर्वर को उर्वर बनाने की जरूरत नही । पर बजर मे बीज वोना हो तो उसे पहले उर्वर बनाना होता है । दोनो प्रकार के लोग होते है—कुछ लोगो की चेतना उर्वर होती है और कुछ लोगो की चेतना बजर होती है । ध्यान के लिए दोनो प्रकार के लोग आते है । यह साधना कराने वाले व्यक्ति को देखना होता है कि इस ध्यान साधक के ध्यान करने की क्षमता है या नही है । यदि है तो ठीक है, ध्यान मे बैठ जाए । एक दो दिन के परीक्षण के बाद यदि पता लग जाए कि ध्यान करना इसके लिए सभव नही है तो फिर उसे आसन मे लगाया जाए, प्राणायाम मे लगाया जाए या फिर चाहे जप मे लगा दिया जाए । इसमे उसकी भी तैयारी हो जाती है और उर्वर होने का मौका भी मिल जाता है ।

सृजनात्मकशक्ति का विकास करने के लिए ध्यान का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण बनता है । और भी अनेक उपाय है । मूर्च्छा को तोडने का कोई एक ही उपाय नही है । तपस्या के द्वारा भी मूर्च्छा टूटती है । सादे भोजन के द्वारा भी मूर्च्छा टूटती है । मूर्च्छा को वढाने वाले जितने उपाय है उनके प्रतिकूल उपाय का आलम्बन लेते है तो मूर्च्छा टूटती है । कोई एक ही आल-

वन नही है। शक्ति के जागरण के अनेक साधन हो सकते है। पर उन सब में सबसे शक्तिशाली साधन है ध्यान। एकाग्रता की चोट बहुत गहरी होती है। कही छेद करना है एक बार चक्का घूमा और उसे काटा, कट जाएगा। पानी की धार बनती है तब गीला कर देती है। चेतना की भी धार बनती है। एकाग्रता का मतलब है कि-बूद-बूद नही गिराना, एक धार बना देना और जब यह धार एकदम गहरी हो जाती है तो फिर नीचे कोई सूखा नही रहता। हमारी बिखरी हुई चेतना, विक्षप्त चेतना काम नही देती। ध्यान का मतलब होता है कि विक्षिप्त चित्त को एकाग्र बना देना, बिखरे हुए को समेट देना, यह है ध्यान का प्रयोजन।

हम एकाग्रता के द्वारा और निर्विचारता के द्वारा अपनी सृजनात्मक-शक्ति का विकास करे। एकाग्रता भी बहुत शक्तिशाली है। वह आदमी कितना धन्य होगा जिसमे निर्विचारता का, निर्विकल्पता का अभ्यास हो गया। वहुत वडी वात है निर्विचारता। विचार न आना, कितनी वडी वात है। निर्विचार मे कोई विचार नही, बिलकुल शात। अच्छा विचार भी नही है और बुरा विचार भी नहीं है। अच्छा विकल्प भी नही है और बुरा विकल्प भी नही है। केवल चैतन्यमय अनुभव है, और कुछ नही है। जब यह स्थिति आती है तो मूर्च्छा का चक्र अपने आप टूट जाता है। मूर्च्छा पर इतनी तेज चोट होती है, इतना तेज प्रहार होता है कि मूर्च्छा टिक नही पाती।

सृजनात्मकशक्ति को विकसित करने के लिए तथा ध्वसात्मकशक्ति को नष्ट करने के लिए हमारी जागरूकता वढे। जैसे-जैसे हमारी जागरूकता वढेगी एक विषय पर हम लम्बे समय तक टिकना सीख जाएगे, एक बात पर लम्बे समय तक सोचना सीख जाएंगे, श्वास को लम्बे समय तक देखना सीख जाएगे तो सृजनात्मक चेतना का विकास होगा। अभी श्वास देखा, विचार आ गया, फिर श्वास देखा और फिर विचार आ गया। क्रम टूटता चला गया। पिरोया हुआ हार है और बीच मे से धागा टूट गया तो मनके सब बिखर जाएंगे। यह धागा टूटना बंद हो जाए और माला एक माला अर्थात् चिन्तन की और दर्शन की ऐसी श्रृंखला बन जाए कि घटा तक लगातार ही श्वास का अनुभव हो सके। इस स्थिति का [illegible] होता है तब हमारी निर्माण की चेतना जाग जाती है और सृजन [illegible] विकसित होती है। उस स्थिति में फिर ध्वंसात्मकशक्ति को [illegible] दिखाने का कोई अवकाश ही नही रहता। हम अपने प्रति [illegible] कि मेरी मंगलभावना जागे, मेरी सृजनात्मकशक्ति जागे और [illegible] शक्ति समाप्त हो, यह मूर्च्छा का चक्र टूटे। यदि भावना-[illegible] हो सकें तो चेतना का विकास अवश्यंभावी है।

१३
परिवर्तन मस्तिष्क का

एक भाई ने कहा—ध्यान करने बैठते हैं तो विचार आने लग जाते है। मैंने कहा—विचार हमारे विकास के द्योतक है। कोई बुरी बात नही है विचार का आना। जिन प्राणियो मे विचार करने की क्षमता नही होती, उनमे विचार नही आता। कीड़े-मकोड विचार नही कर सकते। गाय, भैस, ऊट आदि पशु विचार नही कर सकते और करते भी है तो अत्यन्त अल्प। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसमे विचार करने की अपूर्व शक्ति है। यदि विचार न आना ही ध्यान हो तो कीड़े-मकोड़े निरंतर ध्यान में ही रहते हैं। पेड-पौधे कब विचार करते है ? और जो उनमें थोड़ा विचार आता है, वह उनमे स्थिर नही रहता। विचार का आना या न आना—दोनो ही ध्यान के लक्षण नही बनते। 'विचार न आने का अर्थ ध्यान नही है और विचार आने का अर्थ ध्यान नही है, ऐसा नही है। विचार आने पर भी ध्यान हो सकता है और विचार न आने पर भी ध्यान हो सकता है। ध्यान का यह अर्थ नही है कि विचार न आए। ध्यान का अर्थ है—भीतर की चेतना जाग जाए, वह सक्रिय हो जाए। हमारी चेतना सोई-सोई-सी रहती है, जागृत नही होती। बाहर से जागरण-सा लगता है, सक्रियता लगती है पर भीतर में इतनी गहरी मूर्च्छा और मोह है कि सचाई का पता ही नही चलता। इसीलिए कहा गया—**'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः'**—मैं धर्म को जानना हूं, पर उसमे मेरी प्रवृत्ति नही है। मैं अधर्म को जानता हूं, पर उसमे मेरी निवृत्ति नही है। इसका तात्पर्य है कि आदमी धर्म को जानते हुए भी उसका आचरण नही कर पा रहा है और अधर्म को जानते हुए भी उसे नही छोड पा रहा है। ऐसा क्यों होता है ? जागरूकता और अप्रमाद हो तो यह अवस्था नही वन सकती। बाहरी जागरूकता और भीतरी नींद की अवस्था में आदमी जीता है तो वह अच्छाई को जानते हुए भी कर नही पाता और बुराई को जानते हुए भी छोड़ नही पाता। इस अवस्था को तोडना ही ध्यान का प्रयोजन है। ध्यान के द्वारा यह मूर्च्छा टूटे, यह अवस्था वदले और आदमी इस भूमिका पर आ जाए कि वह बुराई को छोड सके, उसे वदल सके। वदलना जरूरी है। वदले विना काम नहीं चल सकता। आदमी वदलता है, स्वभाव वदलता है तो आसपास का मारा वातावरण

बदल जाता है। जब आदमी नही बदलता तो फिर 'जैसे को तैसा' का सिद्धात चालू रहता है। एक आदमी बुरा है तो दूसरे भी उसके साथ बुरा व्यवहार करते है। यह एक सामान्य नियम-सा है।

बबई की एक घटित घटना है। बहुमंजिला मकान। एक आदमी नीचे की मजिल मे रहता था। ऊपर की मंजिल में कोई दूसरा रहता था। एक दिन ऊपर की मंजिल में रहने वाले व्यक्ति ने नीचे रहने वाले व्यक्ति से कहा—'भाई! देखो, तुम जो सिगड़ी जलाते हो, उसका धूआ ऊपर आता है। मेरा कमरा धूएं से भर जाता है। तुम थोडा-सा ध्यान दो तो यह स्थिति बदल सकती है। पड़ोसी के नाते मै तुम्हें कह रहा हूं।'

वह भी तेज तर्रार व्यक्ति था। उसने उस अच्छी बात का भी बुरे रूप मे ले लिया। उसने न सहानुभूति से सोचा और न सहानुभूति से उत्तर दिया। उसने गर्मी के साथ ही सोचा और गर्मी के साथ ही उत्तर दिया। उसने कहा—'सिगड़ी तो जलेगी ही। वह जलेगी तो धूआ भी होगा। क्या तुम नही जानते, धूएं का स्वभाव है ऊपर जाना। जो प्रकृति का अटल नियम है, उसे मैं कैसे अन्यथा कर सकता हू!'

ऊपर वाले के पास तर्क नही था। 'जैसे को तैसा' की बात उसके मन मे आई। दो-चार दिन बीते। धूए से कमरा भरता रहा। एक दिन नीचे की मजिल वाले ने देखा कि ऊपर के कमरे की छत मे एक छेद है और उससे गदा पानी नीचे टपक रहा है। नीचे रहने वाले व्यक्ति ने शिकायत करते हुए ऊपरी मंजिल वाले से कहा—'भाई! ऊपर से गन्दा पानी नीचे आ रहा है। छेद को दुरुस्त कराओ। गंदे पानी से मेरा कमरा, मेरे कपडे खराव हो रहे है। ख्याल रखना चाहिए।'

वह बोला—'मै क्या करूं? इसमें मेरा क्या दोष है? पानी का स्वभाव है नीचे की ओर वहना। मै इस प्राकृतिक नियम को नहीं वदल सकता। धूएं का स्वभाव ऊपर जाने का है। इसे तुम सहर्ष स्वीकार कर चलो।'

'जैसे को तैसा'—यह दुनिया का नियम है। यदि हम ससार की स्थिति का अवलोकन करे तो ज्ञात होगा कि सारी उलझनें, फिर चाहे वे पारिवारिक उलझनें हो, चाहे सामाजिक और धार्मिक या राजनैतिक उलझनें हो, सब इसलिए वढती हैं कि आदमी वदलता नही। आदमी अपने आप मे परिवर्तन करना नही चाहता, पर दूसरे मे परिवर्तन देखना चाहता है। आज तक दुनिया मे ऐसा नही हुआ कि आदमी स्वयं तो न वदले और दूसरे को बदल डाले। न भूतं न भविष्यति। यदि दूसरे को वदलना है तो पहले स्वयं को वदलना होगा।

ध्यान की परिणति है कि उससे हमारी चेतना, भाव और वृत्तियां

बदल जाती है। जब ये तीनों बदल जाते हैं और फिर विचार भी आते है तो क्या बुरा है। 'ध्यान करने वाले का यह काम है कि वह आने वाले विचारो को न रोके, उन्हें द्रष्टाभाव से देखता जाए। विचारो को जबरदस्ती न रोकना है और न उनके साथ संघर्ष करना है। विचार तो भीतर से आ रहा है। आप उन्हे कैसे रोक पाएं ? इतना किया जा सकता है कि जागरूकता बढ़े और विचार को देखना प्रारंभ कर दे। ध्यान के विषय अनेक है। उनमे हम विचार को भी ध्यान का विषय बना लें। यह एकाग्रता का सुन्दर प्रयोग होगा। जब ध्यान करते-करते विचार आने लगे, उस समय चालू ध्यान का विषय बना, उन्हे देखना प्रारभ कर दे। एक क्षण बाद ऐसा अनुभव होगा कि विचार तो सारे गायब हो गए है। कोई विचार आ ही नही रहा है। यदि कायोत्सर्ग की मुद्रा मे किसी को कहा जाए कि जो विचार आए उसे देखो और बताओ तो वह कहेगा, विचार आ ही नही रहे है, क्या बताऊं'। विचार शात हो जाते है। जब हम विचार-प्रेक्षा प्रारंभ करते है, द्रष्टाभाव से उन्हे देखने लगते है तब वे विचार डरकर अन्यत्र चले जाते है, समाप्त हो जाते है। विचार एक भूत है। भूत से न डरो, न लडो। भूत से लड़ने का अर्थ है—उसकी शक्ति को बढ़ाना और स्वयं की शक्ति को क्षीण करना। भूत को पराजित करने का एकमात्र उपाय है कायोत्सर्ग। भूत के समक्ष जो कायोत्सर्ग की मुद्रा मे शांत स्थित हो जाता है तो भूत की शक्ति टूट जाती है। लडने का अर्थ है भूत की शक्ति को द्विगुणित करना और कायोत्सर्ग मे शांतस्थिर रहने का अर्थ है स्वय की शक्ति को वृद्धिगत करना और भूत की शक्ति को समाप्त कर देना।

विचार भी किसी भयावह भूत से कम नही है। भूत आदमी को कभी मिलता भी है या नही पर विचार का भूत आदमी का पीछा कभी नही छोडता। वह आदमी को दिन में भी मिलता है सपने मे भी वह पीछा नही छोडता। इस भूत से लड़ना वद करो, देखना प्रारम्भ करो। इसे द्रष्टाभाव और तटस्थभाव से देखो, अपनी जागरूकता बढ़ाओ।

ध्यान का मूल उद्देश्य है—अप्रमाद का विकास।

जीवन मे जितना-जितना अप्रमाद होगा, उतना-उतना ध्यान जीवन मे उतरेगा। एक भाषा मे कहा जा सकता है कि ध्यान और अप्रमाद दो नहीं, एक ही है। जो व्यक्ति अप्रमत्त अवस्था मे है वह ध्यान मे है। जो ध्यान मे है वह अप्रमाद मे है। दोनों एक हैं। कहने का प्रकार भिन्न है। शब्द दो है, तात्पर्य एक है।

जैसे-जैसे ध्यान का विकास होगा जागरूकता वढ़ेगी, वैसे-वैसे विचार कम होने लगेगे। अनावश्यक विचार नही आएंगे, आवश्यक विचार आ सकते हैं। विचारों का आना कोई विघ्न नही है, अनावश्यक विचार नही आने चाहिए। जागरूकता के वृद्धिगत होने पर अनावश्यक और अपवित्र विचार

स्वय छूट जाते है। ध्यान के द्वारा वृत्तियो का, संज्ञाओं का परिशोधन और परिष्कार होता है। बुरी वृत्तियो और बुरी संज्ञाओं के कारण बुरे विचार आते है। जब उन वृत्तियों का परिष्कार हो जाता है तब बुरे विचार कहा से आएंगे। विचार अपने आप मे अच्छे-बुरे बनते है। अच्छी वृत्तियां अच्छे विचार। बुरी वृत्तियां बुरे विचार। वृत्तियों का उपशमन होता है तो विचार उठते नही। दूसरे शब्दो मे वृत्तियों का शमन है अविचार। तरंग उठती ही नही। सारा समुद्र शान्त। जब अच्छी वृत्तिया उभरती है तो अच्छे विचार आते है और बुरी वृत्तिया उभरती है तो बुरे विचार आते है। विचार एक प्रतिबिम्ब है हमारी वृत्तियों का।

विचारो के आधार पर हम समझ सकते है कि भीतर अच्छी वृत्तियां सक्रिय हो रही है या बुरी वृत्तियां। वृत्तियों को हम साक्षात् देख नही सकते पर विचारों के आधार पर निर्णय कर सकते है कि कौन-सी वृत्ति काम कर रही है? कौन-सा कर्म काम कर रहा है? मोह कर्म का क्षयोपशम हो रहा है या उदय हो रहा है? इन सबका पता लग जाता है। विचार उसका माध्यम है। जैसा विचार वैसे स्पंदन को जानना ध्यान का काम है। ध्यान हमारी चेतना की विशेष क्रिया है जिसके द्वारा हम सूक्ष्म सचाइयो को जान सकते हैं। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि भीतर मे होने वाले स्पंदनो को ध्यान के माध्यम से जान सकते है। जब हम विचारो को पढना शुरू करते है, देखना प्रारम्भ करते है तब सूक्ष्म स्पंदनो का रहस्य ज्ञात होने लग जाता है।

ध्यान से निरतर जागरूकता बढती है। तब फिर आदमी सोते-जागते चलते-फिरते जागरूक अवस्था में जीता है। यह घटित तब होता है जब ध्यान का अभ्यास परिपक्व हो जाता है। उस अवस्था में साधक सुप्त-जागृत रहता है। वह जागृत-नीद लेता है।

एक लड़का मिट्टी से खेल रहा था। राजा की सवारी उधर मे निकली। लडके का सारा ध्यान मिट्टी मे था। राजा समीप आकर बोला—लडके! तुम बड़े सुहावने लगते हो। मिट्टी मे क्या कर रहे हो? लड़के ने शान्तभाव से कहा—मैं मिट्टी से खेल रहा हू। यह शरीर भी मि
यह मिट्टी भी मिट्टी है। इस शरीर को एक न एक दिन इसी
जाना है इसीलिए अभी से इसके साथ खेल रहा हूं। राजा ने
वह अवाक् रह गया। राजा ने सोचा—लड़का असाधारण है
'लडके! मेरे साथ चलोगे? मेरे साथ रहोगे? यदि तुम
मैं तुम्हे राजकुमार बना दूगा। मेरा राज्य दे दूगा।' लड़
साथ चलने मे और रहने मे मुझे क्या कठिनाई हो सकती
शर्ते है। यदि आप उन शर्तो को स्वीकार करें तो मैं
सकता हूं।

राजा ने पूछा—क्या है तेरी शर्त ?

लडका बोला—'मेरी पहली शर्त है कि मै जब सोऊ तब आपको जागता रहना पड़ेगा। जागकर मेरी रक्षा करनी होगी। दूसरी शर्त है कि निरंतर मेरे साथ रहना होगा। कभी मेरा साथ नही छोड़ सकेंगे। ये दो शर्ते है। यदि स्वीकार हों तो मै आपके साथ चल सकता हूं।'

राजा बोला—'यह कैसे संभव हो सकता है कि तुम सोओ और मैं जागता रहूं। प्रतिदिन ऐसा करना कैसे सभव हो सकता है ? दूसरी शर्त भी कठिन है। मैं निरंतर तुम्हारे साथ कैसे रह सकता हूं ? यह भी सभव नही लगता।'

लड़के ने कहा—'यदि शर्ते मंजूर नही है तो मेरा भी आपके साथ चलना या रहना संभव नही है। मैं अभी भी अकेला नही हूं। मेरे साथ मेरा प्रभु है। मैं सोता हूं तो मेरा प्रभु निरन्तर जागता रहता है, मेरी रक्षा करता है। मेरा प्रभु निरन्तर मेरे साथ रहता है, मुझे कभी अकेला नही छोड़ता। ऐसे मालिक को छोड़कर मै आपके साथ क्यों चलू ? क्यों रहूं ?'

जिसमे जागृति आ जाती है, जिसकी चेतना जाग जाती है, वह फिर कभी साथ नही छोड़ सकती। सोते समय भी जागती रहती है, साथ नही छोडती। ध्यान का अर्थ है—ऐसे प्रभु की खोज, ऐसे मालिक की खोज जो निरन्तर जागता है, साथ रहता है। वह कभी न सोए और कभी साथ न छोड़े। अगर वही सो जाए, साथ छोड दे तो फिर सहारा ही क्या है ?

सारी बात ठीक समझ लें। विचार आने से घबराएं नही, ध्यान को न छोड़ें। विचार को विकास मानकर अपनाएं। विचार मनुष्य की धरोहर है, चेतना का विशेष विकास है। अनावश्यक और अपवित्र विचार न आए, यह जरूरी है। यह ध्यान की क्रिया से स्वतः फलित होता है।

हमारे भीतर दो प्रणालिया काम कर रही है। एक है रासायनिक प्रणाली और दूसरी है विद्युत्-नियंत्रण प्रणाली। ये दोनो प्रणालियां आदमी के आचार और व्यवहार का नियन्त्रण करती है। यदि रासायनिक प्रणाली को समझ लिया जाए तो जीवन का क्रम बदल सकता है। रासायनिक प्रणाली मे अन्त स्रावी ग्रथियां काम करती है। उनके स्राव रक्त मे मिलते है और आदमी के व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते है।

क्रोध आता है। उसके सूक्ष्म कारणो को छोड दे। कर्मशरीर की क्रियाओ को न जान सके तो न जानें, किन्तु इस स्थूल शरीर में उस क्रोध की उत्पत्ति का कारण खोजे और जानें। यह निश्चित है कि किसी अन्तःस्रावी ग्रन्थि का ऐसा स्राव रक्तगत हुआ है और उससे क्रोध उभरा है। ध्यान के द्वारा अन्त.स्रावी ग्रन्थियो के स्राव को वदला जा सकता है और जव वह वदलता है तव आवेग वदल जाते हैं, समाप्त हो जाते है। रसायन वदलते

हैं तो क्रोध करने की, चुगली करने की, चोरी करने अथवा अन्यान्य आदतें बदल जाती है। अन्यथा आदत का बदलना असंभव है।

अनुप्रेक्षा और प्रेक्षा के माध्यम से हम उन ग्रन्थियों को प्रभावित कर सकते है, स्रावों को बदल सकते है।

इसी प्रकार विद्युत्-नियन्त्रण का परिवर्तन होता है। हमारे स्नायु-सस्थान में पर्याप्तमात्रा मे विद्युत् है। उसी विद्युत् के कारण हमारी सक्रियता बनी रहती है, उन विद्युत् के प्रकपनो को बदलने पर आदते बदल जाती है।

एक मनोवैज्ञानिक ने प्रयोग किया। उसने शेर के मस्तिष्क को शान्त करने के लिए उसके सिर पर एक इलेक्ट्रोड लगाया और खरगोश के मस्तिष्क को उत्तेजित करने के लिए उसके सिर पर भी इलेक्ट्रोड लगाया। उससे दोनो के मस्तिष्कीय विद्युत् मे परिवर्तन घटित हुआ। फलस्वरूप शेर खरगोश के सामने शांत खड़ा है और खरगोश उसको मारने के लिए उस पर झपट रहा है, आक्रमण कर रहा है। कितनी उल्टी बात ! ऐसा हो सकता है। आक्रमण के केन्द्र को बदल कर उसमे आक्रामकता लाई जा सकती है। शेर उपशान्त है और खरगोश आक्रामक बन रहा है।

इसी प्रकार बिल्ली और चूहे पर प्रयोग किया गया। वृत्तियो की अपेक्षा से बिल्ली चूहा बन गयी और चूहा बिल्ली बन गया। बिल्ली पर चूहा आक्रमण करने लगा। मोसी शान्त, भानजा आक्रामक। अघटित घटित हो गया।

ये कल्पित कहानिया नही, प्रयुक्त प्रयोग है। इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदमी को बदला जा सकता है रासायनिक परिवर्तनो के द्वारा और विद्युत् प्रकम्पनो के परिवर्तनों के द्वारा। यह असभव नहीं है।

ध्यान है परिवर्तन की प्रक्रिया। तीन महीने तक निरन्तर दीर्घश्वास का प्रतिदिन आधा-आधा घंटा अभ्यास किया जाए तो निश्चित ही बदलने का अनुभव हो सकता है। वह साधक ठीक ढंग से जान जाता है कि भीतर क्या-क्या परिवर्तत हो रहे है।

मस्तिष्क विद्या के अनुसार मस्तिष्क के दो भाग हैं—एनिमल ब्रेन और अन्तरकाल मे विकसित ब्रेन। यह एनिमल ब्रेन आदिम मनुष्य का ब्रेन है। दोनो ब्रेन काम कर रहे है। एनिमल ब्रेन भय, वासना, आक्रमण आदि के लिए जिम्मेदार है और अन्तरकाल मे विकसित ब्रेन क्षमताओ का अक्षय भंडार है। इसमे नियन्त्रण की बहुत शक्तियां हैं। मस्तिष्क के इन [illegible] द्वारा आदमी अपने आवेगो पर नियन्त्रण कर सकता है। तर्क और सभ्यता का विकास इसी मस्तिष्क के द्वारा होता है

ज्योतिकेन्द्र, दर्शनकेन्द्र और शान्तिकेन्द्र—इन चैतन्य करने का अर्थ है नियन्त्रण की शक्ति को विकसित करना।

गहराई बढ़ती है, नियन्त्रण की सहज क्षमता बढ़ती जाती है। ज्योतिकेन्द्र पर सफेद वर्ण का ध्यान तीन महीने तक निरन्तर करने से पीनियल और पिच्यूटरी ग्रन्थि सक्रिय होती है और उससे नियन्त्रण की शक्ति का विकास होता है।

जब स्वयं का अनुशासन नही होता तब बाहर से अनुशासन लाना पड़ता है। जब व्यक्ति का अनुशासन बढ़ जाता है तब उसमे बुराइयों को रोकने की क्षमता बढ़ जाती है और बाह्य नियन्त्रण व्यर्थ हो जाता है।

ध्यान का अर्थ है—आत्मानुशासन का विकास। आचार्य तुलसी ने घोष दिया—निज पर शासन फिर अनुशासन। केवल इस घोष को बार-बार सुनने या कहने से काम नही चलेगा। यह तो एक मार्ग है, पथ है। आखिर तो अभ्यास करना होगा। 'निज पर शासन' कैसे आएगा ? बाहर से आ नही पाएगा। घोष सुनने से भी नही आ पाएगा। यह ध्यान की प्रक्रिया है। इससे सहज ही अपना अनुशासन जागता है और जब स्व-अनुशासन जागता है, नियन्त्रण की क्षमता बढ़ती है तो आदमी शक्तिशाली बन जाता है।

इन संदर्भो मे यदि हम प्रेक्षा ध्यान की मीमांसा करते है, उसका अनुभव करते हैं तो फिर ध्यान मे न विचार बाधक बनते है और न और कुछ। अपेक्षा मात्र इतनी-सी रहती है कि जागरूकता बढ़े, अप्रमाद बढ़े। जैसे-जैसे जागरूकता बढ़ेगी, अप्रमाद भाव विकसित होगा वैसे-वैसे नए जीवन का विकास होगा तथा नई चेतना, नई प्रेरणा और नए व्यक्तित्व का विकास होगा।

नए व्यक्तित्व के निर्माण के लिए आप प्रेक्षा करें—अपनी वृत्तियों की प्रेक्षा करे, अपने शरीर की प्रेक्षा करें, अपने चैतन्य-केन्द्रो की प्रेक्षा करे और अपने विचारो की प्रेक्षा करे। यही है द्रष्टाभाव का विकास।

१४
दिव्य चक्षु

एक अंधा लड़का नगर के चौराहे पर खड़ा भीख माग रहा था। वह चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था—बाबूजी ! एक पैसा, दो पैसा, चार पैसे दे दो, भगवान् तुम्हारा भला करेगा। एक व्यक्ति वहां रुका। उस लड़के से पूछा—तुम अंधे हो। अवस्था छोटी है। पैसे क्यो माग रहे हो ? आखे क्यों नही माग लेते ! उस अंधे लड़के ने गम्भीर होकर कहा—बाबूजी ! देने वालों के पास पैसा है, इसलिए पैसा मांग रहा हूं। उनके पास आखें है ही कहां जो मागू ?

पैसा मिल सकता है। आंख मिल नही सकती। पैसे का अपना मूल्य है और आख का अपना मूल्य है। पैसे से साधन-सामग्री मिल सकती है, पदार्थ मिल सकते है, पर पैसे से शान्ति नही मिल सकती, समाधान नही मिल सकता। शाति और समाधान देना पैसे का काम नही है। जिसका जो कार्य नही है, वह उसका घटक कैसे हो सकता है ? जिसका जो कार्य नही है, यदि वह उसका घटक बन जाए तो फिर सारे कार्य एक पैसे से ही सम्पन्न हो जाएगे। फिर पैसे और अध्यात्म में अन्तर ही क्या रहेगा ? अध्यात्म का काम है शान्ति देना, समाधान देना और पैसे का काम है सुख-सुविधा देना। अध्यात्म का काम है चेतना को जगाना और पैसे का काम हे मूर्च्छा को जगाना। दोनो के काम बटे हुए है। कोई किसी के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता। दोनों के पृथक्-पृथक् कार्य है। दोनो अपने-अपने कार्य में पूर्ण दक्ष है।

चार प्रकार के पुरुप होते है—

१. अंधा
२. मूढ
३. चक्षुष्मान्
४. दिव्य-चक्षुष्मान्।

एक अंधा है। उसे वाह्य जगत् दिखाई नह
अंधा नही है पर है मूढ। मूढ का अर्थ है—मूर्च्छा
आंखें खुली रहती हैं, फिर भी वह कुछ भी देख न
ग्रस्त होता है। तीसरे प्रकार का व्यक्ति है—चक्षु

समझता है। चौथे प्रकार का व्यक्ति है—दिव्य-चक्षुष्मान्।

अधा व्यक्ति कष्ट भोगता है और यह समझता है कि दुनिया उसके लिए नही है। मूढ आदमी भी कष्ट भोगता है और अत्यन्त मोहग्रस्त होने के कारण कष्ट को कष्ट नही मानता। वह मोह मे जीता है। तीसरे प्रकार के व्यक्ति के पास दो आंखे है, चर्मचक्षु है। वह इन आंखो से आकार को देखता है, रूप-रंग को देखता है, पदार्थ जगत् को देखता है, वाह्य जगत् को देखता है। चर्मचक्षुओं के द्वारा दो कार्य होते है—पदार्थ-दर्शन और शरीर-दर्शन। दोनों मूर्च्छा पैदा करते है। पदार्थ-दर्शन से भी मूर्च्छा पैदा होती है और शरीर-दर्शन से भी मूर्च्छा पैदा होती है। जो व्यक्ति शरीर-दर्शन मे अपनी चेतना को समेट लेता है, वह एक प्रकार से कारावास का वंदी बन जाता है। शरीर सुन्दर है। उसमे आकर्षण है। शरीर मे वीमारी हुई। वह विकृत हो गया। आकर्षण समाप्त हो गया। बुढ़ापे मे शरीर के प्रति आकर्षण नही रहता। प्राचीनकाल मे नगरवधूए होती थी। उन्हें प्रतिष्ठा मिलती थी। किंतु ज्यो ही उनका यौवन ढलता तव वे कही की नही रहती। जहां शरीर-दर्शन के आधार पर आकर्षण होगा वहां शुद्ध प्रेम और चेतना का विकास कभी संभव नही होगा।

एक लड़की जा रही थी। पीछे से एक युवक आया और बोला—तुम बहुत सुन्दर हो। मै तुम्हे चाहता हूं। लड़की समझदार थी। उसने कहा—मैं तो कुछ भी नही हूं। मेरी बहिन पीछे आ रही है। वह मेरे से बहुत अधिक सुन्दर है। लड़का वही खड़ा रह गया। उसका पीछा छोड दिया। इतने मे ही वह दूसरी लड़की आ गई। वह भद्दी और कुरूप थी। वह लड़का भागा और आगे की लड़की के पास जाकर बोला—तुमने मुझे धोखा दिया है। तुम्हारी यह बहिन तो बहुत कुरूप है, भद्दी है। वह लडकी वोली—मैंने धोखा नही दिया है। तुम मुझे धोखा देना चाहते थे। तुम मेरे प्रति आकृष्ट नही थे, मेरे सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट थे। यदि मेरे प्रति प्रेम होता तो पीछे खड़े नही रहते और मेरी वहिन का इन्तजार नही करते। चले जाओ यहां से।'

शरीर-दर्शन विचित्र प्रकार की मूर्च्छा पैदा करता है। जैसे ही यह स्थिति समाप्त होती है, एक कडवा अनुभव होता है। बुढापा, वीमारी, शरीर की विकृति आदि जब घटित होती है तब शरीर के प्रति होने वाले आकर्षण का और उस आकर्षण पर पलने वाले लोगो का बुरा हाल होता है। इससे यह सीख मिलती है कि आकर्षण रंग-रूप के प्रति नही, आकार के प्रति नही, किंतु चेतना के प्रति होना चाहिए। यह विशेष दृष्टि से ही होता है। यह विशेष दृष्टि है 'दिव्य चक्षु।' दिव्य-चक्षु—इसमें शरीर नही देखा जाता, किन्तु आत्म-दर्शन होता है। चर्मचक्षु द्वारा शरीर-दर्शन होता है और दिव्यचक्षु द्वारा

आत्म-दर्शन होता है। उससे चेतना-दर्शन और समता-दर्शन होता है। जहां चैतन्य दर्शन की प्रधानता होती है, वहां फिर चाहे शरीर में बीमारी हो, विकृति हो, उससे कोई अन्तर नही आता।

मैंने गांधी को देखा, विनोबा और मदर टेरेसा को देखा। उनका शरीर-सौन्दर्य कुछ भी नही है। कृशकाय, केवल हड्डियो का ढांचा मात्र। शरीर के प्रति कोई आकर्षण नही। किन्तु हजारो-लाखो व्यक्ति इन व्यक्तियो के पास जाते और अपनी समस्याओं का समाधान पा संतोष का अनुभव करते। गाधी और विनोबा से अत्यधिक सुन्दर मनुष्य संसार मे अनेक है। पर समस्या का समाधान पाने उनके पास कोई नही जाता। शरीर की सुन्दरता और समस्या के समाधान का कोई गठबंधन नही है। आचार्य कुन्दकुन्द जैन परम्परा के महान् आचार्य हुए है। उनकी भी शरीर-संपदा इतनी इच्छी नही थी। ऋषि अष्टावक्र का शरीर अत्यन्त कुरूप और टेढा-मेढा था। वह आठ स्थानो से वक्र था। किन्तु जहां कही ऋषियों का सगम होता वहा अष्टावक्र की स्थिति अनिवार्य मानी जाती थी। वह इसलिए कि उनमे चेतना का प्राण प्रस्फुटित था।

हमे राख से प्रयोजन नही है। हमारा प्रयोजन है प्रकाश मे। हमे प्रकाश चाहिए, आलोक चाहिए। वह चेतना से ही मिल सकता है। शरीर जड है। उससे प्रकाश नही मिल सकता। जिस व्यक्ति के मन मे चेतना की जिज्ञासा है, मन मे आलोक और प्रकाश की जिज्ञासा है, वह जड का उपासक नही बन सकता। वह शरीर का उपासक नही बन सकता। वह व्यक्ति शरीर मे विद्यमान ज्योति और प्रकाश की किरण का उपासक बनता है और यह दिव्य-चक्षु का काम है।

जिस व्यक्ति का दिव्यचक्षु उद्घाटित हो जाता है वह व्यक्ति आत्म-दर्शन, चैतन्य-दर्शन मे जाता है। उसकी मूर्च्छा टूट जाती है। ध्यान-साधना का एक मात्र प्रयोजन है दिव्य-चक्षु को उद्घाटित करना। दि
उद्घाटन को प्रज्ञा का जागरण कहा जा सकता है, अध्यात्म चेत
रण कहा जा सकता है, तीसरे नेत्र का जागरण कहा जा स
नेत्र के जागरण के द्वारा केवल पदार्थ ही नही जाना जाता,
तत्त्व है, वह जान लिया जाता है। शरीर के भीतर का
जाता है। जब तक यह नही होता, हमारी समस्याओं
होता। आज शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक
की प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न होती है। आदमी इन
करता है और इन्हीं के आधार पर चलता है। इसने
राग-द्वेष बढता है, वहां सारी समस्याएं पैदा होती
जैसे ही दिव्यचक्षु का उद्घाटन होता है

है कि 'मैं शरीर नही हूं ।' उसे अनुभव होता है—'मैं शरीर नही हूं ।' 'मैं शरीर नही हूं' और 'मै शरीर मे हूं'—ये दो बाते है। महलों में रहना और दिमाग मे महल का रहना—ये दो बातें है। दिव्यचक्षु के उद्‌घाटित होने पर आदमी सोचता है—'मै शरीर नही हूं ।' 'मै शरीर मे हूं ।' "मैं शरीर हूं"—जब तक यह चेतना रहती है तब तक व्यक्ति का ध्यान शरीर-केन्द्रित बना रहता है। शरीर चाहे अपना हो या दूसरे का, कोई अन्तर नही आता। वैसा व्यक्ति शरीर के लिए ही सब कुछ करता है। वह शरीर को ही प्रधानता देता है। वहां शरीर मुख्य होता है और चेतना गौण होती है। यही शरीर-दर्शन का परिणाम है।

एक बहिन आकर बोली—'महाराज ! बडी दुविधा उत्पन्न हो गई है। पहले हम पति-पत्नी में बहुत प्रेम था। कुछ माह पूर्व अचानक मै जल गई। मेरा शरीर विकृत हो गया। मेरे पति का मन खिच गया। कटुता आ गई। जलने की पीड़ा से भी शतगुणित पीडा आज मै भोग रही हूं। यह सब क्यो हुआ, बडा आश्चर्य हुआ।'

तत्काल मेरे मन मे यह विचार स्फुटित हुआ कि इस बहिन के साथ ऐसा बर्ताव तो होना ही चाहिए था। यदि ऐसा नही होता है तो आश्चर्य मानना चाहिए। क्योकि पति-पत्नी के बीच वह प्रेम या आकर्षण नही था। वह था शरीर के प्रति अनुराग। उस अनुराग को ठेस लगी और सम्बन्ध टूट गया। प्रेम अलग होता है और व्यामोह अलग होता है, मूढ़ता अलग होती है। यह सारी मूढता है। शरीर-दर्शन मूर्च्छा पैदा करता है, मूढ़ता पैदा करता है। इसे आदमी समझ नही पाता। यदि इसे समझ लिया जाता है तो आदमी धोखा नही खाता। पहले मूर्च्छा इतनी गहरी होती है कि बात समझ मे नही आती और जैसे ही मूर्च्छा को टूटने का मौका मिलता है तब दिव्यचक्षु ही नहीं, परम दिव्यचक्षु खुल जाता है। शरीर-दर्शन का काम है मूर्च्छा पैदा करना और मूर्च्छा का काम है धोखा देना। अध्यात्म की गहराई मे गए बिना इस धोखे से बचा नही जा सकता।

जहां दिव्यचक्षु का उद्‌घाटन होता है वहा धोखा नही होता। कहा जाता है कि तुलसीदासजी यमुना के तट पर रामायण का पाठ करते थे। वहां लोग एकत्रित हो जाते। उन लोगों में एक व्यक्ति ऐसा भी था जो कुष्ठ-रोग से ग्रस्त था। उसका सारा शरीर झर रहा था। लोगो को बड़ा अटपटा लगता। लोग चाहते कि वह व्यक्ति न आए, या जल्दी चला जाए। तुलसीदासजी को यह ज्ञात हुआ। उन्होने कहा—'यह नही हो सकता। यह व्यक्ति नही उठ सकता।' लोगों ने सोचा—अजीब बात है। यह कोढी है। इसका कोढ़ झर रहा है। तुलसीदासजी इसे मनाही क्यों नही कर देते। पर तुलसीदासजी का चिन्तन भिन्न था। वे उसे मनाही नही करते। उसे आगे

का अच्छा स्थान देते। एक ओर शरीर-दर्शन था, दूसरी ओर आत्म-दर्शन था, तीसरे नेत्र का उद्‌घाटन था।

जैसे ही रामायण का पाठ पूरा हुआ, हनुमानजी आकर तुलसीदासजी के समक्ष खड़े हो गये। यह वही कोढ़ी था, जो रामायण सुनने आता था। लोग उसे पहचान नही सके, तुलसीदासजी ने उसे पहचान लिया।

भगवान् महावीर प्रवचन कर रहे थे। हजारो-हजारों की परिषद्। एक व्यक्ति उस परिषद् को चीर कर आगे आ पहुंचा। उसका सारा शरीर कोढ़ से झर रहा था। उसके आते ही सारा वातावरण दुर्गन्धयुक्त हो गया। वह महावीर के निकट आया, नमस्कार कर चरणो के पास बैठ गया। वह बैठा ही नही, अपने से झरने वाली पीब का महावीर के चरणो पर लेप करने लगा। महावीर मौन थे। परिषद् ने देखा। सब अवाक् रह गए। मगध के सम्राट् महाराज श्रेणिक भी परिषद् में उपस्थित थे। श्रेणिक कुपित हो उठा। महावीर भी उस दृश्य को देख रहे है और श्रेणिक भी उस दृश्य को देख रहा है। महावीर का मन समता से ओतप्रोत है, और श्रेणिक का मन क्रोधाविष्ट है। दृश्य एक है, परिणतिया दो है। श्रेणिक ने तत्काल अपने अधिकारियों से कहा—जाओ, इसे हटाओ और परिषद् से बाहर ले जाओ। महावीर बोले—नही, ऐसा नही हो सकता। इतने मे ही कोढी व्यक्ति उठा और बोला—'महावीर! तुम मर जाओ। श्रेणिक! तुम जीवित रहो।' श्रेणिक ने सुना। वह समझ नही सका। उसने महावीर से पूछा—भते! यह क्या माया है? महावीर बोले—'कुछ नही। यह दिव्यात्मा है। इसका कथन रहस्यमय है, पर है यथार्थ। यह कहता है—महावीर मर जाओ। इसका तात्पर्य है कि मैं तो कृतकृत्य हो गया। अब मृत्यु के पश्चात् मेरा निर्वाण है। तुम्हे जीवित रहने को कह रहा है। इसका तात्पर्य है कि जब तक जीवित रहोगे तब तक सम्राट् अवस्था में रहकर धर्म की आराधना कर सकोगे। मरने के पश्चात् नरक मे जाओगे। इसलिए यह तुम्हे जीवित रहने की बात कह रहा है। यही जीवित रहने और मर जाने का रहस्य है।'

हम दोनो दृष्टियों का अन्तर समझें। महाराज श्रेणिक शरीर-दर्शन मे उलझ गए। महावीर के समक्ष चैतन्य-दर्शन स्पष्ट था। वे समाहित थे।

जब तक दिव्यचक्षु का उद्‌घाटन नही होता तब तक राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाली समस्याओ से नही बचा जा सकता। आदमी क्भी दुःखो से छुटकारा नही पा सकता। शरीर-दर्शन के आधार पर उत्पन्न होने वाली समस्याओ से कौन आक्रान्त नही है?

जब दिव्यचक्षु खुलता है तब आकर्षण की धारा बदल जाती है। फिर आकर्षण की धारा पुद्गल के आधार पर नही होती। वह होती है समता के आधार पर, चैतन्य के आधार पर, चित्त की निर्मलता के आधार पर।

आचार्य श्री दिल्ली मे प्रवास कर रहे थे। उस समय हम एक उपनगर मे थे। वहां एक साधक था। उसका वर्चस्व था। उसने आचार्य श्री के स्वागत का आयोजन किया। आचार्यश्री आयोजन मे पधारे। हॉल खचाखच भरा था। वह साधक मंच पर बैठा था। हाल मे उसके भक्त बैठे थे। हमने देखा कि वे सारे भक्त उस साधक को एकटक देख रहे है। न वे आचार्य श्री को देख रहे है और न आचार्य श्री के भक्तो को। सब की दृष्टि एक मात्र उस साधक पर टिकी हुई थी। मानो कि वे सब त्राटक कर रहे हों। मेरा ध्यान उनकी ओर था। मैने आश्चर्य के साथ देखा कि उनकी दृष्टि एक बार भी इधर-उधर नही हुई। बडा विचित्र लगा। किसी ने हमारी ओर नही देखा। जबकि हम प्रवचन कर रहे थे, स्वागत हमारा हो रहा था। पर सब का ध्यान उस साधक की ओर था।

इसका निष्कर्ष हमने यह निकाला कि उनको यह पाठ पढ़ाया गया है कि अपने इष्ट के प्रति, आराध्य के प्रति जो श्रद्धा और समर्पण होता है, उससे चेतना का जागरण होता है और दिव्यचक्षु का उद्घाटन होता है।

सामान्य आदमी यही समझता है कि वे भक्त लोग साधक के शरीर को देख रहे थे। नही, वे अपने चैतन्य के प्रति इतने समर्पित थे कि उसके सिवाय अन्य कुछ भी दिखाई नही दे रहा था। चैतन्य जागरण का यही एक उपाय है। जब चैतन्य के प्रति समर्पण होता है, तब मूर्च्छाएं टूटती है और तब सारी समस्याएं समाहित हो जाती है।

हम दिल्ली से प्रस्थान कर रोहतक जा रहे थे। रास्ते मे एक आश्रम आया। उसके अधिष्ठाता से बातचीत हुई। उन्हे प्रेक्षा ध्यान की प्रकिया की पूरी अवगति दी। वे बोले—'आचार्य श्री ! आपकी यह ध्यान पद्धति सुन्दर है। हम ध्यान का सगुण प्रयोग करते है। हम आज्ञाचक्षु पर अपने गुरु की मूर्ति का ध्यान करते है, इष्ट का ध्यान करते है। इससे आज्ञाचक्षु के जागृत होने मे सहयोग मिलता है। पहले हम खुली आखो से देखते है, फिर आंखे बंद कर देखते है।"

ध्यान की यह प्रक्रिया भी बहुत लाभदायक है। इस पद्धति से भी चैतन्य-केन्द्र सक्रिय होते हैं और दिव्यचक्षु का उद्घाटन होता है।

जब तक व्यक्ति सघन मूर्च्छा मे जीता है, तब तक दिव्यचक्षु के उद्घाटन की बात प्राप्त नही होती। मूर्च्छा पर प्रहार होना आवश्यक है।

अलग करना तथा मूर्च्छा को अलग करना—यह प्रयोग के बिना नही हो सकता। प्रेक्षा का प्रयोग इसमें सहायक हो सकता है। रोटी खाते समय भी हम द्रष्टाभाव और ज्ञाताभाव का अभ्यास करे। यदि यह भाव प्रवल वना तो रोटी का प्रयोग भी हमारे लिए मूर्च्छा को तोड़ने वाला प्रयोग हो जाएगा।

एक युवक युवती को देखता है, एक युवती युवक को देखती है। इस देखने मे यदि यह विचार पुष्ट हो कि जैसी आत्मा इसमें है, वैसी ही मेरे में है। दोनों की आत्मा समान है। यदि हम मूर्च्छा को हटा देते हैं तो मात्र एक विषय-वस्तु रह जाता है। वह वासनापूर्ति का साधन नही रहता। एक तो हम पदार्थ को वासनापूर्ति का साधन मानते है और एक उपयोगिता की अपेक्षा मानते है। दोनों में बहुत वडा अन्तर है।

भंवरा बांस को काटता है और कमल को डसता है। दोनों मे बहुत अन्तर है। बांस कठोर होता है, फिर भी भंवरा उसे छेद कर वाहर चला जाता है। कमल कोमल होता है फिर भी वह उसमे बंद हो जाता है, वाहर नही निकल पाता।

एक व्यक्ति अपनी पत्नी का आलिगन करता है और वही अपनी पुत्री का आलिगन करता है, दोनो मे वहुत वडा अन्तर होता है।

विल्ली उन्ही दांतो से अपने वच्चो को पकडती है और उन्ही दांतो से चूहे को पकड़ती है, दोनों मे रात-दिन का अन्तर होता है।

जिन आंखों से हम रोते है, क्या उन्हीं आंखो से हम नहीं हंसते ? रोने और हंसने की आंखे दो नही होती। वहां भी अन्त:करण का अन्तर है। जिसका अन्त:करण वदल गया, उसके लिए सव सामान्य वन गया। जिसका अन्त:करण मूर्च्छा से ग्रस्त होता है, हर वात वासना वन जाती है। इस वात को गहराई से समझने पर ही अध्यात्म समझ मे आ सकता है।

जिस व्यक्ति ने प्रेक्षा के द्वारा अपने अन्त:करण को वदलने का अभ्यास किया है, उसका दिव्यचक्षु उद्घाटित हो गया और उसकी मूर्च्छा टूट गई। उसके लिए पदार्थ पदार्थ रह जाता है और चैतन्य चैतन्य रह जाता है। जिस व्यक्ति ने दिव्यचक्षु को उद्घाटित करने का प्रयत्न नही किया, शरीर-दर्शन मे लिप्त रहा, मुग्ध रहा, उसके लिए पदार्थ पदार्थ नही रहता, वह सव कुछ वन जाता है। उसके लिए वस्तु वस्तु नही रहती, वह चैतन्य वन जाती है। उसके लिए वस्तु, पदार्थ और चैतन्य का भेद नही रहता।

१५
दिव्य-शक्ति

शक्तिशून्य जीवन वैसा ही होता है जैसे आग बुझ जाने पर राख का ढेर। जब आग जलती है, तब प्रत्येक व्यक्ति उससे बचकर निकलता है। उसमे भय समाया रहता है कि कही पैर जल न जाएं। जब अग्नि शांत हो जाती है, राख का ढेर रहता है तब आदमी बिना किसी हिचक के उसको रौंदता हुआ चला जाता है।

राख और जलती हुई आग मे जो अन्तर है, वही अन्तर है शक्तिहीन और शक्तियुक्त जीवन मे। जिसमे अपनी शक्ति नही होती, उसका काम होता है भीख मांगना। शक्तिशून्य व्यक्ति भीख मांगने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है ? वह दया की भीख मांगता रहता है, कृपा और करुणा की याचना करता रहता है। शक्तिशाली व्यक्ति कभी भीख नही मागता। वह अपनी शक्ति के आधार पर ऐसा कुछ करता है जिससे वह स्वय केन्द्र बन जाता है।

दुनिया में सबसे बड़ा तत्त्व है—शक्ति। मैं शक्ति का उपासक नही हूं, पर शक्ति में विश्वास करता हूं। शक्तिशाली होना अपने आप मे एक महान् उपलब्धि है। ज्ञान है, आनन्द है और यदि शक्ति नही है तो कुछ भी नही है। शक्ति के बिना ज्ञान का कोई उपयोग नही होता। शक्ति के बिना आनन्द का कोई उपयोग नही होता। कर्मशास्त्रीय भाषा मे कहा जा सकता है कि शक्ति के द्वारा ही ज्ञान का उपयोग होता है, आनन्द का उपयोग होता है और जागृति का उपयोग होता है। जो कुछ होता है वह शक्ति के द्वारा ही होता है।

अनन्त चतुष्टयी के चार अवयव ये हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति। इस अवधारणा मे अनन्त शक्ति को सबसे अन्त मे रखा गया है, किन्तु इसका उपयोग सबसे पहले होता है। अनन्त ज्ञान अनन्त शक्ति से ही स्फुटित होता है, शक्ति के द्वारा ही उपलब्ध होता है। जो व्यक्ति शक्तिशाली नही होता, वह ज्ञान को उपलब्ध नही कर सकता, ध्यान को उपलब्ध नही कर सकता। ध्यान उसी व्यक्ति मे सधता है जिसका शारीरिक संगठन मजबूत होता है। कमजोर व्यक्ति ध्यान मे स्थिर नहीं हो सकता। ध्यान में सबसे पहली आवश्यकता है—कायसिद्धि। ध्यान मे बैठ

गया तो बैठ गया। घंटों तक बैठा रहा। ध्यान में खड़ा हो गया तो हो ही गया। वाहुबलि बारह महीने तक ध्यान मे, कायोत्सर्ग मे अडोल खड़े रहे। यह उनकी शक्ति का परिचायक था।

ऋषभ के पुत्र बाहुवलि किसी पवित्र भावना से ध्यान मे खड़े नहीं हुए थे। उनका मन अहंकार से भरा था। उन्होने सोचा, मेरे अन्य छोटे भाई भगवान् के पास प्रव्रजित हो चुके है। यदि मैं अब दीक्षित होता हूं तो मुझे उनको वंदना करनी पडेगी, क्योंकि वे रत्नाधिक है, बड़े है। मुझे केवलज्ञान ही तो प्राप्त करना है, और करना ही क्या है ? क्या ऋषभ के पास जाने से ही केवलज्ञान मिलेगा ? क्या मुझे एकाकी को नही मिलेगा ? यह अहंकार का भूत सिर पर सवार हुआ और वे लंबे कायोत्सर्ग के लिए प्रस्तुत हो गए। भारी भरकम शरीर, लंबा-चौडा शरीर, ऐसा लगता था, जैसे कोई कीर्ति-स्तम्भ ही खडा हो गया हो। न हिलना, न डुलना। मूसलाधार वर्षा आई। आंधियां चली। शरीर पर लताए फैल गई। कायोत्सर्ग करने वाले के लिए कोई फर्क नही पड़ता। कायोत्सर्ग मे स्थित व्यक्ति को कोई सर्प डस जाए, कोई गले मे हार पहना दे, कोई अन्तर नही आता। वह तव अपने आप में रहता है, शरीर में नही। जब हमारी उपस्थिति शरीर में होती है, तव वाधाएं उपस्थित होती है। यदि हम शरीरातीत अवस्था में चले जाते हैं, आत्मा मे चले जाते है तो बेचारा शरीर पडा है, उसका कोई आलिगन करे, सांप डसे, चंदन का लेप करे, चिड़िया घोसला डाल दे तो भी कोई अन्तर नही आता।

बाहुबलि बारह मास तक खड़े रहे, इतनी कठोर साधना, इतनी दीर्घ तपस्या, पर केवलज्ञान नही हुआ। भगवान् ऋषभ ने अपनी दोनो पुत्रियो—ब्राह्मी और सुन्दरी से कहा—तुम्हारा भाई वाहुवली कायोत्सर्ग में स्थित है, अविचल है, पर अहंकार से ग्रस्त है, इसलिए उपलब्धि नही हो रही है। अहकार एक वाधा है, विघ्न है। वहिने वहां गईं जहां मुनि वाहुवलि ध्यानस्थ खडे थे। उन्होने कहा—'भाई ! हाथी से नीचे उतरो।' ये शब्द मुनि के कानों मे पडे। सोचा, कैसा हाथी ! अरे, मै कहां चला गया ? मैं कहां फंस गया ? चला था मुनि बनकर एक चक्रवर्ती को जीतने के लिए। पर क्यों ? जिसने अपनी इच्छा से सब कुछ त्यागा, सब कुछ छोड़ दिया, फिर छोटे भाई, जो मुनि बन गए है उन्हे वंदना करने मे वाधा ही क्या है ? मैं बीच में क्यों अटक गया ? यह चिन्तन चला। तत्काल मन वदला। भगवान् की शरण मे जाने के लिए पैर वढ़ाया और अनन्त ज्ञान की उपलब्धि हो गई।

इस घटित घटना से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि अनन्तज्ञान की उपलब्धि शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकता है। परंतु शक्ति के कुछ अव-रोधक भी हैं। उनमें अहंकार और प्रमाद दो प्रमुख अवरोधक हैं। जब तक

प्रमाद नही मिटता तब तक 'दिव्यशक्ति' का जागरण नही हो सकता। शक्ति का जागरण हो सकता है पर 'दिव्यशक्ति' का जागरण नही हो सकता। प्रमाद मिटने पर दिव्यशक्ति प्रगट होती है। प्रमाद के कारण शक्ति का व्यय होता रहता है। आलस्य, नीद आदि प्रवृत्तियां शक्ति को क्षीण करती है।

प्रत्येक व्यक्ति मे 'दिव्यशक्ति' होती है। परतु आदमी अपनी शक्ति का उपयोग नही करता। दिव्यशक्ति वह है जो दूसरे के अहित मे कभी प्रवृत्त न हो। केवल शक्ति अहित मे प्रवृत्त हो सकती है, दिव्यशक्ति कभी अहित मे प्रवृत्त नही हो सकती। एक श्लोक है—

'विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥'

साधु पुरुष और दुर्जन पुरुष मे अन्तर ही क्या है? दुर्जन पुरुष के लिए विद्या विवाद का कारण बनती है और सज्जन पुरुष के लिए विद्या ज्ञान के विकास का माध्यम बनती है। दुर्जन व्यक्ति के लिए धन अहकार और अकड़न का कारण बनता है, पर सज्जन व्यक्ति के लिए धन दान का निमित्त बनता है। उसके लिए धन का उपयोग है दान। दुर्जन व्यक्ति की शक्ति दूसरो को पीड़ित करने मे लगती है और सज्जन व्यक्ति की शक्ति दूसरो की रक्षा मे लगती है। यह अन्तर है सज्जन व्यक्ति और दुर्जन व्यक्ति की प्रवृत्ति मे।

तेरापथ के पाचवे आचार्य मघवागणी संस्कृत के पडित थे। एक संस्कृत पडित उनके पास आया। बातचीत चली। चर्चा के प्रसंग मे पडितजी ने बडा अहकार प्रदर्शित किया। ऐसा दिखावा किया कि मैं ही पडित हू दुनिया मे। मघवागणी बड़े विनम्र और मृदु थे। पंडितजी अहकार मे बोलते गये और मघवागणी शांतभाव से सुनते रहे। पंडितजी अहंकार के आवेश मे थे। अशुद्ध बोल गए। मघवागणी ने सुना, पर शान्त रहे। जब चर्चा समाप्त हुई और लोग सब विसर्जित हो गये तब मघवागणी ने पंडितजी से कहा—आपने यह अशुद्ध प्रयोग कैसे किया? पडितजी ने मौन रहकर उसे स्वीकार किया। उनके अहकार का पारा उतर गया। वे मघवागणी के चरणो मे झुककर बोले—महाराज! आपने मेरी लाज रख दी। यदि आप परिषद् के बीच मे मुझे टोक देते तो मेरी सारी प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती।

सज्जन व्यक्तियों का ज्ञान दूसरो के अहकार को चोट पहुचाने के लिए नही होता। उनकी विद्या विवाद के लिए नहीं होती। विद्या ज्ञान के लिए होती है और विनम्रता के साथ ज्ञान को प्रस्तुत करती है।

दिव्यशक्ति वह होती है जो दूसरे को पीडा नही पहुचाती। [illegible] [illegible] अप्रमाद से ही सभव होती है। जब तक व्यक्ति मे प्रमाद [illegible]

होती है तब तक दिव्यशक्ति का जागरण नही हो सकता। प्रमत्त आदमी ही दुनिया में भय पैदा करता है। भगवान् महावीर ने कहा—प्रमत्त को भय होता है। डरा हुआ आदमी भय की सृष्टि करता है। गाय सामने खड़ी है, डरती नही है। तब तक न गाय को डर है और न पास से गुजरने वाले को डर है। यदि वही गाय डरती है, पूछ को ऊपर किए हुए भयंकर मुद्रा मे खड़ी है तो वह स्वयं डरती है और दूसरे को भी डरा देती है। डरा हुआ आदमी डर की सृष्टि करता है। अप्रमत्त व्यक्ति अभय होता है। उसमे भय नही रहता।

दिव्यशक्ति की जागरणा में सबसे बड़ी बाधा है—प्रमाद। प्रमाद का अर्थ है—अजागरण। जैसे-जैसे जागरण बढ़ता है; शक्ति का विकास होता है। आचरण और व्यवहार की शुद्धि से पूर्व अपेक्षित होती है जागरूकता। जागरूकता बढेगी तो आचरण और व्यवहार की शुद्धि स्वयं घटित होगी।

प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य है अप्रमाद में प्रवेश करना, प्रमाद को मिटाना, मूर्च्छा को नष्ट करना, जागरूकता को घटित करना।

जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है—जागना। जब आदमी जाग जाता है तब सारी अच्छाइयां एक-एक कर आने लग जाती है। एक अर्हत् ने उपदेश दिया—'मनुष्यो! जागो। जो जागता है उसकी बुद्धि बढती है। आज तक जो कुछ लिखा गया, वह जागृत अवस्था मे ही लिखा गया है। यदि कोई साधना करते-करते थक जाता है तो वह नीद में भी जागता रहता है। वैसे साधक नीद मे भी लिखते है तो वे जागरूक होकर ही लिखते है। बिना जागरूकता के कोई कुछ भी नही लिख सकता। प्रत्येक कार्य जागृत अवस्था में होता है। प्रमाद और निद्रित अवस्था में कुछ भी नही होता। अर्हत् ने ठीक कहा है—'जो जागता है, उसकी बुद्धि बढ़ती है, उसकी शक्ति बढ़ती है।' शक्ति-जागरण का सबसे बड़ा स्रोत है—जागरण। जो जाग जाता है उसकी शक्ति बढती जाती है। जो सोता रहता है, उसकी शक्ति का व्यय होता जाता है। उसमे शक्ति का अर्जन नही होता, केवल व्यय होता रहता है। शक्ति-व्यय के तीन कारण है—काया की चंचलता, वाणी की चंचलता और मन की चंचलता। जिन व्यक्तियों मे ये तीनों प्रकार की चंचलताएं काम करती है, उनकी शक्ति का व्यय बहुत अधिक होता है। जो व्यक्ति शरीर की स्थिरता, वाणी की स्थिरता और मन की स्थिरता को साध लेता है, उसकी शक्ति का व्यय रुक जाता है। आदमी अनावश्यक बहुत सोचता है। यदि पूरे दिन का लेखा-जोखा रखा जाए तो ज्ञात होगा कि दिन भर में जितना सोचा गया, उसमें ९०-९५ प्रतिशत अनावश्यक था और मुश्किल से पाच प्रतिशत आवश्यक था। इसी प्रकार आदमी अनावश्यक बहुत करता है,

ध्यान की सार्थकता अपने आप सिद्ध हो जाती है ।

दिव्यशक्ति के जागरण का एक लक्षण और भी है । वह व्यक्ति कभी अपमान का बदला अपमान से, गाली के प्रति गाली नही देगा । वह मानेगा—

अपमानादयस्तस्य, विक्षेपो यस्य चेतसः ।
नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः ॥

अपमान आदि की अनुभूति उसे होती है, जिसके चित्त मे विक्षेप होता है, चंचलता होती है । जिसके चित्त मे चंचलता नही है, विक्षेप नही है, अपमान आदि उसे कभी विचलित नही कर सकते ।

दिव्यशक्ति का विकास ध्यान की साधना के बिना संभव नही । ध्यान दिव्यचक्षु के उद्घाटन का प्रयोग है, दिव्य आनन्द के विकास का प्रयोग है और दिव्यशक्ति के जागरण का प्रयोग है । यदि इस दिशा मे चरण बढ़ेगे तो निश्चित है कि हमारी दिव्य चेतना जागेगी, आनन्द प्रगट होगा और दिव्य-शक्ति और स्फुरणा होगी । हम सचमुच ऐसी दिव्यता का अनुभव करेंगे कि हमारे दिव्य अनुभव और दिव्य व्यक्तित्व का निर्माण हो सकेगा ।

१६

दिव्य आनन्द

सुख और दुःख का एक चक्र है। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन—यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। अरहट चलता है। नीचे से भर कर आता है और ऊपर आकर खाली हो जाता है। यह क्रम चलता है। इसी प्रकार काल का चक्र चलता है, अवस्थाओ का चक्र चलता है। कभी सुख होता है और कभी दुःख होता है। आदमी सदा सुख चाहता है, कभी दु.ख नही चाहता, पर दु.ख होता है। सुख निरन्तर नही रहता। हमे इनकी प्रकृति पर विचार करना होता है कि आदमी सुख चाहता है पर वह होता नही। क्यों ? सुख निरन्तर क्यों नही होता ? कहां कमी रह जाती है ? सुख-दुःख की प्रकृति क्या है ? जब तक किसी भी तत्त्व की प्रकृति को नही समझ लिया जाता तब तक उसके स्वरूप को नही समझा जा सकता।

सुख और दुःख—इनकी मूल प्रकृति है इन्द्रिय-सवेदन। इसी से ये उत्पन्न होते है। जो बात इन्द्रियों से जुडी हुई है, वह बात शाश्वत नही होती। शाश्वत वही होती है जो इन्द्रियातीत होती है। इस प्रकृति भेद को समझ लेने पर समस्या सुलझ जाती है।

प्रश्न होता है कि सुख-दुःख का संवेदन क्यो होता है ? इसका समाधान यह है कि हमारी मानसिक धारणाओ ने एक विशेष अवस्था का निर्माण किया है। वह है अनुकूलता और प्रतिकूलता, प्रियता और अप्रियता। जब अनुकूल बात होती है तब हमारा सुख का संवेदन जागृत हो जाता है और जब प्रतिकूल घटना घटित होती है तब दुःख का संवेदन जाग जाता है। प्रिय का योग होता है तो सुख का अनुभव होने लगता है और अप्रिय के योग मे दु.ख उभर आता है। सुख-दु ख हमारी इन्द्रियो से उत्पन्न होने वाली मानसिक धारणाओं के साथ जुड़ा है।

सुख और दु ख के संवेदन का एक चक्र है। जब तक व्यक्ति [illegible] मे रहता है तो यह कभी संभव नही कि २४ घंटा सुख का संवेदन हो। इसी आधार पर हमारे शरीर मे दो प्रकार की ग्रन्थियां बनी है—एक सुख पैदा करनेवाली और एक दुःख पैदा करनेवाली।

अब प्रश्न है, क्या सुख को स्थायी बनाया जा सकता है ? क्या दुःख को समाप्त किया जा सकता है ? सीधा उत्तर होगा कि इन्द्रिय [illegible] के [illegible]

होना कभी सम्भव नही है। जब तक हम इन्द्रिय जगत् मे जीएंगे तब तक यह स्वप्न लेना दिवास्वप्न है, कल्पना करना आकाश कुसुम जैसा है। आकाश मे कभी फूल नही लगता। कमल के फूल लग सकता है, चपक के फूल लग सकता है पर आकाश मे कभी फूल नही लगता। यह असंभव बात है कि इन्द्रिय जगत् मे आदमी जीए और वह सुख या दु.ख—एक का ही अनुभव करे, यह असभव बात है। यह द्वन्द्व बराबर चलता रहेगा। तब व्यक्ति के मन मे एक जिज्ञासा पैदा होती है, ऐसा कोई उपाय है जिससे सुख को स्थायी बनाया जा सके ? इस संभावना की खोज मे आदमी जब चलता है तो एक मार्ग भी मिल जाता है। खोज मे जो चला, उसे निश्चित रूप से मार्ग मिला है। उसको मार्ग नहीं मिलता, जो खोज के लिए नही चलता। मार्ग मिलना बडी बात नही है, बडी बात है जिज्ञासा जाग जाना। जिसमे जिज्ञासा जाग गई, बस, काम हो गया। जिज्ञासा नही जागी, मार्ग का प्रश्न ही नही। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिज्ञासा पैदा हो जाना। जिन लोगो मे एक विशेप प्रकार की जिज्ञासा जाग जाती है, उनके लिए मार्ग स्वय उतर आता है।

हम साधना के मार्ग मे अनुभव करते है कि जिसकी जिज्ञासा प्रवल हो गई उसे मार्ग की बहुत चिन्ता नही है। मार्ग अपने आप मिल जाता है। कभी तो ऐसा होता है कि गुरु या पथ-दर्शक स्वयं उसके दरवाजे पर आकर दस्तक लगाते है, उसका दरवाजा खटखटाते है और कहते है—चलो, यह रास्ता तुम्हारे लिए है। प्रश्न है जिज्ञासा के जाग जाने का। यह जिज्ञासा जागे कि क्या सुख स्थायी है ? आनन्द और सुख मे कोई अन्तर नही है। अगर अन्तर डाले तो इतना ही अन्तर किया जा सकता है कि सुख के बाद दु:ख और दु.ख के बाद सुख। यह सुख-दु:ख के सवेदन का चक्र है। यह चक्र समाप्त होता है फिर कोरा सुख बचता है, वह आनन्द बन जाता है। एक समृद्धि बन जाता है। आनन्द का अर्थ होता है—समृद्धि। सारी गरीबी समाप्त हो जाती है। दरिद्रता समाप्त हो जाती है। समृद्धि, वैभव, ऐश्वर्य—इसी का नाम है आनन्द और उससे जो सुखानुभूति होती है, वह सुखानुभूति इस सुख-दु ख के चक्र मे कभी नही होती।

क्या यह आनन्द कोरी कल्पना ही है या वास्तविक ? वास्तविक तो है, पर जब तक हम इन्द्रियानुभूति मे रहते है तब तक वह कोरी कल्पना ही होती है। जो लोग केवल इन्द्रिय-रसो को जानते है, इन्द्रिय-रसो का स्वाद चखते है और उन्हें ही सब कुछ मानते है, उनके लिए आनन्द कोरी कल्पना है।

जिन लोगो ने एक दूसरे दरवाजे को भी खोजा है, खोला है, वे इस सचाई का अनुभव कर सकते है कि आनन्द कोरी कल्पना नही, परम वास्त-

विकता है। अध्यात्म के आचार्य ने लिखा—'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्'—आनन्द आत्मा का स्वरूप है। प्रश्न होता है, वह कहां है? उत्तर मिलता है—वह अपने शरीर मे है, बाहर कही नही है। आनन्दकेन्द्र मे आनन्द का घट भरा पड़ा है। वह छलाछल भरा हुआ घट है।

पौराणिक कहानी है। देवताओं और दानवो मे युद्ध छिडा। भयकर युद्ध। देवताओ ने सोचा—हमारे पास सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु है अमृत। यदि वह दानवो के हाथ लग गया, या दानवों ने उसे नष्ट कर दिया तो हमारी धरोहर समाप्त हो जाएगी। पीढियो से विरासत मे चली आ रही सपत्ति नष्ट हो जाएगी। इसलिए ऐसा कोई उपाय करना चाहिए जिससे वह सुरक्षित रह सके। देवो ने सुरक्षित स्थान की गवेषणा की, सोचा-विचारा। उन्होंने सोचा—मनुष्य के आनन्दकेन्द्र का स्थान इतना सुरक्षित है कि वहा अमृत घट को कोई आच नही आ सकती। उस स्थान का किसी को कोई पता ही नही है। उन्होने आनन्द से छलछला रहे अमृत घट को आदमी के आनन्दकेन्द्र मे रख दिया। वह आज तक सुरक्षित पडा है। आदमी को भी उसका अता-पता नही है। किसी ने उसको नही छेडा है।

फिर एक प्रश्न होता है कि उसका पता क्यों नही चलता? इसका भी कारण है। जिस व्यक्ति ने ध्यान मे जाने का अभ्यास नहीं किया, जिसने भीतर मे झाकना नही सीखा, जिसने इस चमडी को भेदकर आगे देखने का प्रयत्न नही किया, वह आनन्द को कभी नही पा सकता। जन्मान्ध व्यक्ति सूरज को नहीं देख सकता, यह वात समझ मे आ सकती है, किन्तु आखो वाला भी यदि सूरज को न देख सके, यह आश्चर्य होता है। क्या सूरज को देखने के लिए किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता होती है? वह बहुत स्पष्ट है। इसी प्रकार आनन्द का अस्तित्व भी अत्यन्त स्पष्ट है। परन्तु लोग इसे [illegible] चर्चा या प्रश्नोत्तरो के माध्यम से जानना-समझना चाहते है। वे [illegible] करना नही चाहते, प्रश्न से ही समाधान पा लेना चाहते हैं। पूरा समाधान [illegible] नही पाता। प्रश्न केवल पचीस प्रतिशत समाधान देता है। प्रयोग [illegible] पूरा समाधान देते है। आदमी का यह स्वभाव है कि वह सीधा [illegible] चाहता है। टेढे-मेढे रास्ते मे चलना नही चाहता। [illegible] सफलता उन्ही को मिलती है जिन्होने टेढी-मेढी पगडडियो [illegible] राजमार्ग का निर्माण किया है। जिन्होंने सीधा [illegible] बनाए हुए मार्ग पर चले है, वे कहीं कुछ नहीं कर पाए। [illegible] विश्वास, अपने कर्तृत्व पर विश्वास, पुरुषार्थ पर विश्वास [illegible] जीने मे विश्वास होना चाहिए। यह केवल [illegible] जीवन जीने की समग्र सफलता का मार्ग है।

दूसरे द्वारा प्राप्त [illegible]

को ही समाप्त कर देना है। अपने घर की संपदा पर भरोसा रखने वाले या तो घर बरबाद कर देते है या कामचोर बन जाते है। जीवन में सफल वे ही होंगे जो अपनी पारिवारिक संपदा को प्राप्त कर लेने पर भी अपने पुरुषार्थ से उसे शतगुणित करने का संकल्प लिए चलते है। जब यह विश्वास जाग जाता है तब आदमी श्रम से कतराता नही। जब वह अभ्यास की सरणि पर आगे बढेगा, तब उसे अनुभव होने लगेगा कि आनन्द कहां है ?

आनन्द होता है इद्रियातीत जगत् में। जिस व्यक्ति ने इद्रियातीत जगत् का दरवाजा खोला है और उसमें प्रवेश कर आगे चरण बढ़ाए है, उसके लिए यह प्रश्न ही नही रहता कि क्या सुख से परे आनन्द नाम का तत्त्व है ? वह प्रश्न समाहित हो जाता है। जिस व्यक्ति ने थोडा भी अभ्यास किया है, वह इसका अनुभव कर सकता है कि बिना सुख-सुविधा की सामग्री के, बिना इंद्रिय विपयों के आभोग से भी आनन्द उपलब्ध होता है, जो सब मे विशेष होता है। वह सतत आनन्द होता है।

एक ज्ञानी साधक भिक्षा के लिए गांव में गया। एक घर मे पहुंचा और भिक्षा मागी। घर की मालकिन ने गालियां देते हुए भिक्षा देने से इनकार कर दिया। साधक चला गया। दूसरे दिन फिर उसी घर पर पहुंचा। बहिन ने सोचा—कैसा ढीठ साधक है। कल मनाही की थी, आज फिर आ गया। हट्टाकट्टा है, फिर भी भीख मांगता है। कमाकर नही खाता। उस बहिन ने राख उठाकर उस साधक पर डाल दी। साधक ने कपड़े झडका कर राख अलग कर दी। वह आगे बढा। लोगो ने कहा—कल गालियां मिली थी, आज राख मिली है। आने वाले कल क्या मिलेगा, पता नही। आप क्यों आते है इस घर मे ? साधक बोला—आप नही जानते। बहुत अच्छी महिला है। वह कुछ देना नही जानती थी। अब धीरे-धीरे सीख रही है। एक दिन भिक्षा भी देने लग जाएगी।

यह है इद्रियातीत जीवन का अनुभव। जिस व्यक्ति मे इद्रियातीत जगत् का अनुभव जाग जाता है, उसका दृष्टिकोण बदल जाता है, व्यक्ति को देखने का कोण बदल जाता है।

अध्यात्म किसी एक परम्परा की बपौती नही है। यह मुक्त और व्यापक तथ्य है। यह निर्वाध विपय है। आज तक इसे कोई एक परंपरा मे बांधा नही जा सका। हजार प्रयत्न करने पर भी वैज्ञानिक इसके लिए कोई सार्वभौम नियम नही बना पाए। जड जगत् के लिए नियम बनाए जा सकते है, पर चेतना की अपनी स्वतन्त्रता होती है। रेल पटरी पर चल सकती है, पर यदि ड्राइवर चाहे कि वह उसे जमीन पर चलाए, क्या वह चला पाएगा ? दुर्घटना घटित हो जाएगी। जड पदार्थ नियम से प्रतिबद्ध होता है।

साधना का पथ निर्बाध होता है। कोई व्यक्ति यह आग्रह रखे कि अकेला व्यक्ति ही साधना कर सकता है या समूह में ही साधना हो सकती है, यह भ्राति है। घर को छोड़कर ही साधना की जा सकती है, यह एकांगी दृष्टिकोण है। साधना के लिए घर को छोडना ही नही, यह भी एकागी दृष्टिकोण है। साधना का अनिवार्य अग है प्रेक्षा। अन्याय अंग अनिवार्य नही हैं। जो प्रेक्षा नही करता, वह साधना नही कर सकता।

भरत चक्रवर्ती आदर्शगृह मे प्रेक्षा करते-करते केवली हो गए। भरत चक्रवर्ती की माता मरुदेवा हाथी के होदे पर बैठी-बैठी केवली हो गई। आदमी चाहे पहाड़ की चोटी पर बैठा हो, जंगल मे हो, घर मे हो—कही भी हो, वह मुक्त हो सकता है, केवली हो सकता है। शर्त एक ही है कि उसकी भावधारा क्रमशः विशुद्ध, विशुद्धतर होती जाए। वह चेतना का ऊर्ध्वारोहण करे। केवली बनने के लिए, मुक्त होने के लिए कोई एकांगी नियम नही वन सकता कि अमुक क्षेत्र या काल मे रहने वाला ही मुक्त हो सकता हे, दूसरा नही। जो ऐसा आग्रह रखता है वह गलत है।

जो व्यक्ति अनेकान्त का पुजारी है, उसका दृष्टिकोण यह होगा कि यह भी हो सकता है, वह भी हो सकता है। भगवान् महावीर से पूछा गया—भते! कुछ लोग कहते है कि साधना वन मे ही हो सकती है, गाव मे नही हो सकती। क्या यह ठीक है? भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—साधना गाव मे भी नही हो सकती और साधना जंगल मे भी नही हो सकती। फिर भगवान् से पूछा—इन दोनो के सिवाय साधना कहा हो सकती है? भगवान् बोले—राग-द्वेष को जीतो, फिर साधना गांव में हो जाएगी। राग-द्वेष को जगल मे साथ लेकर जाओ, वहां भी साधना नही हो सकेगी। मूल बात है—वीतराग बनो। अपने संवेदनों से मुक्त बनो। फिर जहां कही भी, जिस किसी वेशभूषा मे साधना करो, वह सध जाएगी। राग-द्वेष को छोडे बिना कुछ भी नही होगा।

अनेकान्त की दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि साधना हर स्थिति मे हो सकती है। अलग-अलग सप्रदाय के लोग यह आग्रह [illegible] कि अमुक प्रकार का वेष पहनोगे तो साधना होगी, यह [illegible] धारण नहीं करोगे तो कल्याण नही होगा। यह केवल आग्रह हे, संप्रदायगत [illegible] है। यह भी एक प्रकार का अभिनिवेश है जो यह कहते हैं — [illegible] सम्प्रदाय से जुडे रहोगे, तब तक कल्याण संभव नही है। [illegible] कल्याण होगा।

एक बहिन ने मुनि से पूछा—'महाराज! [illegible] करना चाहिए?'

मुनि ने कहा—यदि तुम्हें साधना [illegible]

अलग हो जाओ। बहिन होशियार थी, बड़ी चतुर और साधना करने वाली। उसने कहा—महाराज ! आप तो सब कुछ छोडकर अलग हो गए, फिर भी आपको भोजन के लिए आलबन चाहिए, रहने के लिए स्थान चाहिए, वस्त्र चाहिए, दवा चाहिए—आपको भी सहारा अपेक्षित होता है तो फिर मै एक सहारे को छोडकर दूसरे सहारे पर क्यो जाऊ ? आखिर कही न कही तो सहारा लेना ही पडेगा।

यह सही बात है कि जब तक जीवन है तब तक सहारा लेना ही पडेगा। यह कल्पना नही की जा सकती कि आलबनो या सहारो से सर्वथा मुक्त होकर कोई भी व्यक्ति जीवन यापन कर सके। यदि कोई व्यक्ति यह निश्चय कर लेता है कि मुझे जंगल मे जाकर बैठ जाना है, न खाना है, न पीना है, किसी सहारे की जरूरत नही है, फिर भी उसे हवा और वातावरण का सहारा तो लेना ही होगा। जब तक शरीर है तब तक सहारे से सर्वथा मुक्त होना असंभव है।

इन सारी बातों को ध्यान मे रखकर हम अपने भीतर आनन्द की खोज करे।

प्रश्न होता है कि क्या हमारे भीतर आनन्द का अस्तित्व है ? इसका उत्तर है—हा, उसका अस्तित्व है। खोज आवश्यक है। सोना खान से निकलता है। क्या उस समय वह चमकीला पीला होता है ? नही। प्रयत्न के द्वारा उसके सारे मल साफ किए जाते है और तब वह चमकने लगता है। तिल को कपडे मे बांधा जा सकता है, पर तैल को कपडे मे नही बांधा जा सकता। तिल मे तैल रहता है, पर वह हमे दिखाई नही देता। तिल को विधिवत् पीलने से तैल निकल आता है। दूध को गर्म कर, दही जमाने के पश्चात् बिलौना करने से मक्खन प्राप्त होता है। इसी प्रकार शरीर मे आनन्द का अजस्र स्रोत बह रहा है। शरीर को तपाने, मन को और चेतना को जागृत करने से आनन्द प्रत्यक्ष हो जाता है, हस्तगत हो जाता है। आनन्द हमारे से अलग नही है। बिना खोज किए, बिना तपे और बिना खपे वह प्राप्त नही होता।

डाक्टर शरीर में आनन्द के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। उनका तर्क है कि उन्होने शरीर के अणु-अणु की जानकारी प्राप्त कर ली है, पर कही भी आनन्द का अस्तित्व ज्ञात नही हुआ। यह ठीक है। जिसने ध्यान के द्वारा श्वास और प्राण के प्रकपनो का अनुभव किया है, जिसने ध्यान की सूक्ष्मता मे प्रवेश किया है, जिसने अनुभव करते-करते तैजस शरीर, विद्युत् शरीर और प्राण का अनुभव किया है, जिसने कर्म के सूक्ष्म स्पंदन जाने है, उस व्यक्ति को पता है कि शरीर के भीतर कितना आनन्द है। उसकी तुलना मे पदार्थ का आनन्द कुछ भी नही है।

तो इन्द्रियातीत अनुभव के जागने से आनन्द जाग जाता है, भेद-विज्ञान स्फुटित हो जाता है। जिसके भेदविज्ञान हो गया कि आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है, मै आत्मा हू, शरीर नही हूं, मै शरीर मे हू पर मै शरीर नही हूं, उसके लिए आनन्द का दरवाजा खुल गया। उस व्यक्ति का आर्त-रौद्र ध्यान समाप्त हो जाता है। उसमे धर्म और शुक्ल ध्यान का जागरण हो जाता है। जब तक आर्त-रौद्र ध्यान समाप्त नही हो जाता तब तक दु ख और सुख का चक्र समाप्त नही होता। जब आर्त-रौद्र ध्यान समाप्त होता है, प्रियता-अप्रियता का सवेदन समाप्त होता है वहा भेद-विज्ञान की चेतना जाग जाती है। उस चेतना के जागने पर एक निष्पत्ति होती है और वह बहुत कार्यकर होती है।

भेद-विज्ञान की चेतना की निष्पत्ति यह है कि समस्या और पीडा होने पर भी दु ख नही होता। आज तक हम यही जानते है कि जहां समस्या है, पीडा है, वहा दु ख है। पर भेदविज्ञान की चेतना के जाग जाने पर दु.ख नही होता, चिन्ता नही होती। मन सतुलित और शात हो जाता है और वह समस्या को सुलझाने मे लग जाता है। कोई भार नही, सब कुछ हलका। आदमी समस्या मे अधिक क्यो उलझता है ? वह इसीलिए उलझता है कि एक समस्या को सुलझाते-सुलझाते वह एक नई समस्या पैदा कर देता है। वह चिन्ता, भय और हीनता की समस्या से घिर जाता है। उस समस्या से छुट-कारा पाना सहज-सरल नही होता। समस्या को सुलझाना कठिन नही होता, पर समस्या के द्वारा उत्पन्न समस्या को सुलझाना कठिन हो जाता है। समस्या को सुलझाने का सुन्दर सूत्र है—भेदविज्ञान। उसमे कोई नई समस्या नही, भय नही, दुःख नही। समस्या आई। सुलझाने का प्रयत्न किया। सुलझ गई तो ठीक, नही सुलझी तो कोई चिन्ता नही। यदि दु.ख होता है तो वह दोहरी चोट है। एक तो समस्या और उसका दु ख और दूसरा दु.ख उस समस्या के न सुलझने का। यह तो समस्या और दु.ख को और अधिक सघन बनाने का उपाय है। ऐसी स्थिति मे आदमी समस्या के हाथ का खिलौना बन जाता है।

समस्या आने पर भी दु ख का सवेदन नही करना, ऐसा जीवन जीना एक कला है।

कुछ लोग पूछते है कि शरीर मे पीडा हो, फिर भी दुःख न हो, क्या यह संभव है ? सामान्यत. यह संभव नही माना जा सकता, पर इन्द्रियातीत चेतना की जागृति हो जाने पर यह स्थिति सामान्य बन जाती है। जिन व्यक्तियो का मन शात है, जिन्होने इन्द्रियातीत चेतना का अनुभव [illegible] है, उन व्यक्तियो से जाकर लोग कहते है—ओह ! आपके शरीर मे [illegible] पीडा हो रही है फिर भी आप प्रसन्न है, मुस्करा रहे है। वे [illegible] है—[illegible]

तो कोई कष्ट नही है, पीड़ा नहीं है। शरीर में पीड़ा है तो मुझे क्या ? ऐसे व्यक्तियों को हमने प्रत्यक्ष देखा है। ऐसा हो सकता है। सामान्य व्यक्ति में ऐसा नहीं होता, पर इन्द्रियातीत चेतना में जीने वाले व्यक्ति में ऐसा होना आश्चर्यकारी नही है। जिसमे भेदविज्ञान की चेतना जाग जाती है उसमे पीड़ा होने पर भी दु:ख की अनुभूति नही होती।

किसी के पैर मे कांटा चुभा हुआ है, फिर भी वह सुख की नीद सो रहा है। क्या उसमें पीड़ाजन्य दु:ख नही है ? ध्यान जाता है तो दु:ख होता है, अन्यथा नहीं। शरीर में पीड़ा है, पर कोई प्रेमी आ गया, मित्र आ गया, बातचीत में लीनता आ गई, पीड़ा का दु:ख नही होता। पीडा होना और दु:ख होना एक बात नही है, बिलकुल दो बातें है। दोनो चेतनाओं को हम स्पष्ट रूप मे समझें---एक है इन्द्रिय-चेतना और दूसरी है इन्द्रियातीत चेतना। जो व्यक्ति सदा इन्द्रिय-चेतना में रहता है वह निरन्तर सुख और दु:ख के चक्र मे चलता रहता है। जो व्यक्ति इस चेतना से परे हट कर जीता है वह भेद-विज्ञान की चेतना मे चला जाता है और आनन्द का जीवन जीने लग जाता है। पर यह सब ध्यान के द्वारा ही संभव हो सकता है। जो व्यक्ति ज्ञाता-द्रष्टा का प्रयोग नही करता, प्रेक्षा का प्रयोग नही करता और केवल सुनता-समझता है, वह ध्यान को प्राप्त नही हो सकता। उसमे इन्द्रियातीत चेतना कभी नही जाग पाती और वह दिव्य आनन्द को कभी उपलब्ध नही कर सकता।

१७
अध्यात्म और विज्ञान

भीतर की गहराइयों मे गए बिना सचाई को जाना नही जा सकता। प्रत्येक देश और काल का अपना मूल्य होता है। आज का देश और काल विज्ञान से बहुत अधिक प्रभावित है। आज का प्रबुद्ध आदमी विज्ञान की भाषा समझता है। बहुत सहजता से समझ लेता है। वह पुरानी भाषा को इतनी सहजता से नही पकड़ पाता। अध्यात्म की भाषा पुरानी हो गई, इसलिए उसे पकडने में कठिनाई हो रही है। अध्यात्म स्वयं विज्ञान है। विज्ञान और अध्यात्म को बांटा नहीं जा सकता। उनके बीच में कोई भेद-रेखा नही खीची जा सकती। किन्तु आज चलने वाली धारा हजार वर्षो के बाद अनबूझ पहली बन जाती है।

वर्तमान की धारा लोगों के लिए सुलभ होती है। आज यही हुआ है। आज अध्यात्म को हम भूल गए और विज्ञान हमारी पकड में आ गया। गहरे मे उतर कर देखे तो अध्यात्म और विज्ञान मे अन्तर नही लगता। दोनों की प्रकृति एक है। दोनों नियमों के आधार पर चलते है।

अध्यात्म ने चेतना के नियम खोजे और विज्ञान पदार्थ के नियमो की खोज कर रहा है। दोनों ने नियमों की खोज की है। जहां नियम की खोज नही होती वहां सचाई का पता नही चलता।

यह सारा जगत् नियमों के आधार पर चल रहा है। हम नियमो को नही जानते, इसलिए वे हमारे लिए चमत्कार बन जाते है। इस दुनिया में चमत्कार जैसी कोई बात नही होती। जो चमत्कार माने जाते हैं, वे सारे के सारे इस जगत् के नियम है। जो नियम से अनभिज्ञ है उसके लिए चमत्कार और जो नियम का ज्ञाता है उसके लिए चमत्कार समाप्त हो जाते है।

जब पहली बार आग जली, तब बडा चमत्कार लगा। लोगों ने सोचा, यह क्या है ? यह कहां से आ गई ? उस समय कोई उसे समझ नहीं सका। जैसे-जैसे आग के नियम ज्ञात होते गए, आग जलना कोई चमत्कार नहीं रहा।

एक दिन जब रेले पटरियों पर दौड़ने लगी, तब लोगों को [illegible] चमत्कार लगा। अनेक ग्रामीणो ने उसे देवता मान [illegible] की। [illegible]

मारे भाग गए। जब लोग रेल के नियमो को समझ गए तब रेल न चमत्कार रहा, न भय रहा और न आतक रहा।

ये जितने जादू के चमत्कार है, जितने तत्रविद्या के चमत्कार है, ये सारे नियमो के चमत्कार है। नियम के प्रतिकूल कुछ भी नही है। अन्तर केवल इतना ही है कि जो नियमो को जानता है उसके लिए कोई चमत्कार नही है और जो नियमों को नही जानता उसके लिए सब चमत्कार है।

दोनों हाथो को पास मे करे, अगुलियां दो-चार इंच की दूरी पर रहे। धीरे-धीरे वे आपस में मिल जाएगी। कोई चमत्कार नही है। नियम है। अगुलियो में विद्युत् है और चुम्बकीय आकर्षण है। जैसे ही वे आमने-सामने होती है, वे चुम्बकीय आकर्षण से प्रेरित होकर मिल जाती है।

चुम्बक लोह को खीचता है। ग्रामीण व्यक्ति के लिए वह चमत्कार है। जो चुम्बकीय नियम को जानता है, उसके लिए चमत्कार जैसा कुछ भी नही है।

जगत् में अनगिनत रहस्य है, अनगिनत नियम है। सारे नियमों को जानना हमारे वश की बात नही है। जो नियमो को जान लेता है, उसके लिए चमत्कार जैसी कोई बात नही है।

दोनो ने—अध्यात्म और विज्ञान ने—नियमों को खोजा। इसीलिए एक वैज्ञानिक व्यक्ति आगे चलते-चलते आध्यात्मिक बन जाता है और एक आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी यात्रा करते-करते वैज्ञानिक बन जाता है। यह नही हो सकता कि वैज्ञानिक आध्यात्मिक न हो और यह भी नही हो सकता कि आध्यात्मिक वैज्ञानिक न हो। यह इसलिए होता है कि दोनों का मार्ग एक है, दिशा एक है, पद्धति एक है और निष्पत्ति एक है। इतना होने पर ये दोनो अलग कैसे रह सकते है ? भिन्न-भिन्न दिशाओ से आने वाली ये दो धाराएं एक महानदी मे मिलकर एक हो जाती है। आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—जब तक नदियां अलग-अलग है तब तक उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जब वे सब समुद्र में मिल जाती है तब नदियो का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और एक समुद्र का ही अस्तित्व रहता है। वैसे ही विज्ञान की धारा, अध्यात्म की धारा तथा भिन्न-भिन्न लगने वाली और भी अनेक धाराए जब सत्य के महा-समुद्र मे विलीन होती है तब वे सब एक बन जाती है। उनका भेद समाप्त हो जाता है।

नियमों को जानना बहुत आवश्यक है। नियमो को जाने बिना कोई व्यक्ति आध्यात्मिक नही बन सकता। नियमों को जाने बिना कोई व्यक्ति वैज्ञानिक नही बन सकता। अध्यात्म के अपने नियम है और विज्ञान के अपने नियम है। मैं यह अनुभव करता हूं कि आध्यात्मिक व्यक्ति को विज्ञान पढ़ना बहुत जरूरी है और वैज्ञानिक को अध्यात्म पढना बहुत जरूरी है। अच्छा यह

होगा कि अध्यात्म के प्रकाश मे विज्ञान को पढ़ा जाए और विज्ञान के प्रकाश मे अध्यात्म को पढ़ा जाए, तव नियम की पूरी श्रृखला हमारे सामने आ सकती है।

प्रश्न होता है कि यह क्यों आवश्यक है ? नियमो का ज्ञान क्यो आवश्यक है ? हम चेतना के स्तर पर जी रहे है। वह चेतना मस्तिष्क द्वारा सचालित है। हमारी सारी संस्कृति और सभ्यता चेतन मस्तिष्क द्वारा संचालित है। हमारी चेतना तीन स्तरों पर कार्य करती है—चेतन मस्तिष्क का स्तर, अर्द्धचेतन मस्तिष्क का स्तर और अवचेतन मस्तिष्क का स्तर। हम चेतन मस्तिष्क के स्तर पर जी रहे है। यह स्थल चेतना का स्तर है। हमारा सारा विकास मस्तिष्कीय चेतना के स्तर पर हो रहा है। क्रोध, अहकार, ईर्ष्या वासनाए—ये सारी मनोवृत्तियां आदमी को प्रभावित करती है। हमारे भीतर एक शक्ति है अवचेतन मन की। वडा रहस्यपूर्ण है वह भाग। वहा पहुचने पर हम इन पाशविक वृत्तियो पर नियन्त्रण कर सकते है, किन्तु उसे पहचाना नही जा रहा है।

भगवान् बुद्ध के पास एक चरवाहा आया और वोला—'मै भिक्षु वनना चाहता हूं।' वुद्ध ने पूछा—'तुम वकरियो और भेडो को गिनते हो ?' उसने कहा—'हां, जरूर गिनता हूं।' वुद्ध ने कहा—'किसकी ?' उसने कहा—'दूसरे चरवाहो की गिनता हूं।' वुद्ध वोले—'तुम भिक्षु वनने के योग्य नही हो, क्योकि तुम्हारी वृत्ति है दूसरो की भेड़े गिनना। भिक्षु वन जाओगे तो दूसरों के दोप ही देखोगे, अपने दोष नही देखोगे।'

जव तक व्यक्ति भीतर मे प्रवेश नहीं कर पाता तव तक भीतरी संपदा का ज्ञान नही हो सकता। आज की यह सवसे वडी समस्या है कि आदमी भीतर में प्रवेश नही पा रहा है। अध्यात्म का सूत्र है—सारी चेतना को वाहर से हटाकर भीतर मे ले जाओ। इस नियम को जाने विना कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक नही वन सकता। जव चेतना वाहर की ओर दौड़ती है तव अन्तर्मुखी होना संभव नही हो सकता। आज सारी खोज, सारा [illegible], सारी प्रवृत्तियां वाहर ही वाहर हो रही हैं। आज आदमी को दूसरे को [illegible] मे जो रस आता है, वह स्वयं को देखने मे रस नहीं आता। वह [illegible] समाप्त हो गया है। आज वाजार देखने मे रस है, सिनेमा देखने मे रस है, कपडो और गहनो को देखने मे रस है, खाद्य-पदार्थों को देखने मे रस है। [illegible] सभी आकर्षणो और रसो की परतो के नीचे अपने आपको देखने [illegible] रहा है, समाप्त हो गया है। ध्यान करने मे, स्वयं को देखने मे, [illegible] करने मे कोई रस है ही नहीं, सारा नीरस लगता है। [illegible] जो ध्यान शिविरो मे भीड लग जाती। जहां भीतर [illegible] नीरसता है, और जहा वाहर जाने की वात है, वहां सरसता है। [illegible]

मे रस आता है। दो आदमी लडते हैं वहां सौ आदमी एकत्रित हो जाते हैं बड़ा रस है उसमें। इसी रस के आधार पर सारी लड़ाइयां लड़ी जाती है यदि रस न हो तो एक ही दिन मे सारी लड़ाइयां समाप्त हो जाएं।

अध्यात्म का सबसे पहला और मुख्य नियम है—भीतर की ओ जाना, भीतर में झांकना, भीतर में रस पैदा करना। जब तक यह रस पैद नही होता, तब तक अध्यात्म को नही समझा जा सकता। प्रश्न होता है अध्यात्म को समझना आवश्यक क्यों है ? यह इसलिए आवश्यक है कि हम जिस दुनिया मे जी रहे है, हमे उस दुनियां से संतोष नही है। कही भी देखो असंतोष ही असंतोष, शिकायत ही शिकायत। हर व्यक्ति के मन में शिकायत है। पुत्र के मन में पिता के प्रति शिकायत है और पिता के मन में पुत्र के प्रति शिकायत है। पति के मन मे पत्नी के प्रति और पत्नी के मन मे पति के प्रति शिकायत है। सर्वत्र शिकायत ही शिकायत, असंतोष ही असंतोष इस स्थिति मे एक नई दुनिया की खोज आवश्यक लगती है। ऐसी दुनिया जहां शिकायत न हो, असंतोष न हो, प्रतिक्रिया न हो, समस्याए न हों, दु.ख न हो। उस खोज का फल है—अध्यात्म चेतना का जागरण।

हम जैसे-जैसे अध्यात्म की यात्रा करते है तब चेतन मन को निष्क्रिय होना होता है। जब चेतन मन निष्क्रिय और शांत-शिथिल होता है तब अवचेतन मन सक्रिय हो जाता है, जागृत हो जाता है। दोनों मन एक साथ काम नही कर सकते। आदमी का चेतन मन इतना सक्रिय है कि प्रतिक्षण विकल्प और विचार उठते रहते है। इस महासमुद्र में ऐसा कोई क्षण है नही जिसमे तरंग न हो। इस समुद्र मे निरन्तर तरंगें उठती रहती है। कौन व्यक्ति ऐसा है जिसका मन क्षण भर के लिए भी तरंग-मुक्त हो। निर्विकल्प, निर्विचार और निस्तरग होने के क्षण जीवन में वहुत कम आते हैं। ये तरंगे, विचार और विकल्प अवचेतन मन की शक्ति को जागृत नही होने देते। उसमें बाधा डालते है। ये विक्षेप और विघ्न वनते है। इसलिए हमें उस नई दुनिया का पता नही चलता। नई दुनिया हमारे भीतर है, पर उसका हमें वोध नही होता। वह सुखद संसार, सारी की सारी सृष्टि हमारे भीतर है, पर हम उससे अनजान रह जाते है।

हमे एक मोड़ लेना होगा, नई यात्रा प्रारम्भ करनी होगी। यह होने पर ही कष्टों से छुटकारा पाया जा सकता है। हमारी इस दुनिया में वहुत कष्ट है। एक भी आदमी सुखी नही है। हर आदमी दु.ख का चोगा पहने हुए है। कोई अज्ञान के कारण, कोई कपाय की प्रवलता के कारण, कोई वासना की प्रवलता के कारण, कोई मूर्च्छा के कारण दु.खी है। अज्ञान हटता है तो दु:ख मिट जाता है। कपाय और वामना टूटती है तो दु ख मिट जाता है। उत्तेजनाएं शांत होती है तो दु:ख मिट जाता है।

अज्ञान दुःख का मूल कारण है। आदमी अज्ञान के कारण दु.ख के साधनो को सुख के साधन मान बैठा है। दुःख के साधन सदा दु ख ही देते है, पर अज्ञान के कारण, मूर्च्छा और मोह के कारण उनको ही सुख के साधन मान बैठा है। ज्ञातासूत्र का एक प्रसंग है। कुछ लोग गए और एक भिखारी को पकड कर सेठ के घर ले आए। भिखारी रोया, चिल्लाया। सेठ के घर जाकर उसे नहलाया, अच्छे कपडे पहनाए, आभूषण पहनाए पर वह रोता रहा। जब उसके भिक्षापात्र को लोग फेकने लगे तो वह जोर-जोर से चिल्ला उठा। उसकी चेतना उस भिक्षापात्र के साथ इतनी जुड़ गई थी कि वह उसका वियोग सहन करने मे समर्थ नही था। वह मानता था, यदि वह भिक्षापात्र है तो जीवन है, रोटी, पानी है अन्यथा उसे भूखे मरना पडेगा। उसे यह ज्ञात नही था कि सेठ की कन्या का विवाह उसके साथ किया जाने वाला है और उसे सेठ की सपत्ति भी मिलने वाली है। उसका भिखारीपन सदा-सदा के लिये छूट जाने वाला है। पर उस भिखारी ने तो यही समझ रखा था कि वह भिक्षापात्र ही सब कुछ देने वाला है। यदि वह नष्ट हो गया तो सारे सुख नष्ट हो जाएगे।

आदमी की चेतना दु.ख के साधनो, भिखारीपन के साधनो के साथ इतनी जुडी हुई है कि वे साधन समाप्त होते है तो लगता है कि सर्वस्व समाप्त हो गया है।

जिस व्यक्ति मे चेतना का परिवर्तन होगा तो नई दुनिया का विकास होगा। चेतना बदले बिना कुछ भी संभव नही है।

विज्ञान ने अवचेतन मन की खोज कर एक नए ससार का स्वप्न संसार के समक्ष रखा है। किन्तु अध्यात्म की खोज तो उससे भी आगे है। उस खोज मे अचेतन मन नीचे रह जाता है। आत्मा के नियम जानने वाला व्यक्ति सुखद संसार मे चला जाता है, जहां हजार कठिनाइयां आने पर भी वह उनसे अछूता रह जाता है, उनका सवेदन नही करता, उनका भोग नही करता, हजार दु ख आने पर भी वह क्षण भर के लिए दु खी नही होता। वास्तव मे उसके लिए कोई दुःख होता ही नही। उसका सुख इतना निर्बाध बन जाता है कि कोई भी व्यक्ति उसमे बाधा उपस्थित नही कर सकता।

आत्मा के सुख को अव्याबाध कहा जाता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें कोई भी बाधा नही आ सकती। हमारे [illegible] मस्तिष्क मे कितनी बाधा होती है? कुछ क्षणो के लिए सुख हुआ और [illegible] दु [illegible] हो गया। उस सुख मे बाधा आ गई। आज की दुनिया मे [illegible] व्यक्ति नही मिलेगा जिसका सुख महीनों, दिनों तक स्थायी हो। [illegible] भी आदमी कितनी बार सुख का अनुभव करता है और [illegible] अनुभव करता है। सुख का द्वन्द्व ऐसा है, जिसको [illegible]।

ये दोनों निरंतर साथ रहते हैं। सुख के क्षण में दु:ख का क्षण पलता है और दु ख के क्षण मे सुख का क्षण पलता है । दोनो साथ-साथ पलते है। बस, अन्तर इतना ही है कि जब चक्का एक बार ऊपर जाता है, आधा हिस्सा नीचे चला जाता है । फिर नीचे वाला उपर आ जाता है और ऊपर वाला नीचे चला जाता है। पर वे अलग कभी नही होते। इस स्थिति से निपटने के लिए अध्यात्म ने एक नियम दिया। वह नियम है—चंचलता को त्यागो। बहुत चंचलता है। हमारा शरीर चंचल है, वाणी चंचल है, इन्द्रियां चचल है, मन चचल है, सब कुछ चचल ही चचल। ऐसा क्या है जिसे हम अचचल कहे। अध्यात्म ने इस नियम की व्याख्या करते हुए कहा—हमारी सारी सृष्टि चचलता के कारण है। चचलता के परित्याग के साथ सृष्टि बदल जाएगी। चचलता मिटते ही अचचलता आ जाएगी। अचंचलता का अर्थ ही है—सुख की सृष्टि।

सबके सामने समस्याएं आती है। इस दुनिया मे जीने वाला कोई भी व्यक्ति समस्या से मुक्त नही हो सकता। ध्यान करने वाले के सामने भी समस्याए आती है और ध्यान न करने वाले के सामने भी समस्याएं आती है। सियारो की दुनिया में जीने वाला कोई भी कछुआ सुरक्षित नही रह सकता। जब सियार है तो कछुआ कैसे सुरक्षित रहेगा ?

ज्ञातासूत्र का एक प्रसग है। गगा नदी के पास एक जलाशय था। उसमे से दो कछुए एक साथ बाहर आए और भूमि पर चंक्रमण करने लगे। एक सियार ने उन्हें देख लिया। वह उनको खाने दौडा। कछुओ ने सियार को आते देखा और वे अपने सुरक्षा कवच मे गुप्त हो गए।

दुनिया में जितने भी प्राणी है, उन सबके पास अपनी-अपनी सुरक्षा के साधन है। जहा भय है, हिसा है, आक्रमण है वहां सुरक्षा के साधन अनिवार्य है।

सियार आया। दोनो कछुओ को देखा। उसे प्रतीत हुआ कि वे मर गए है। दोनों कछुओ ने पूर्ण गुप्ति कर ली थी, कायोत्सर्ग कर लिया था। सियार निराश होकर लौट गया। वह दूर जाकर एक झाडी मे छुप गया। उसकी दृष्टि कछुआ पर लगी हुई थी।

एक कछुआ पूर्ण गुप्ति किए अपनी ढाल मे सुरक्षित था। दूसरा कछुआ चंचल था। एक बार गुप्ति की। पर कुछ ही क्षणों बाद उसने अपना शरीर ढाल से बाहर निकाला और वहां से चलने लगा। सियार ने देखा। तत्काल वह झपटा और कछुए को मार डाला।

जो अपने आप मे रहता है, उसे बाहर से कोई खतरा नही है। खतरा उस व्यक्ति को होता है जो अपने से हटकर, बाहर मे प्रवृत्त होता है।

दूसरा कछुआ पूर्णरूप से गुप्ति कर बैठा रहा। सियार उस पर ताक

लगाए बैठा था। पर चंचलता स्थिरता को कैसे जीत सकती है। स्थिरता पर चचलता कभी विजय नही पा सकती। चंचलता पर स्थिरता की विजय होती है। सियार निराश होकर लौट गया। कछुआ चला और जलाशय में सुरक्षित पहुच गया।

जो व्यक्ति चचलता का जीवन जीता है, वह किसी न किसी समस्या को निमंत्रित करता है। चंचलता का कोई भी क्षण ऐसा नही है जो समस्या से मुक्त हो।

एक बात और है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के लिए आदमी को चचल होना पडता है। इस स्थिति मे चचलता की बात कैसे कही जाए। यह असंभव बात है। संभावना का एक मार्ग है। वह है सतुलन का मार्ग। चचलता और स्थिरता का संतुलन। आदमी जागृत अवस्था मे चचल रहता है तो निद्रावस्था मे भी चंचल रहता है। निद्रावस्था मे भी चंचलता नही मिटती। स्वप्न एक चचलता है। उससे मुक्त कौन है? इसलिए हमे कुछ क्षण स्थिरता मे विताने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह संतुलन स्थापित हो सकता है तो हमारा जीवन आध्यात्मिक बन सकता है।

अध्यात्म की दिशा मे प्रस्थान करने का पहला नियम है—चंचलता और अचंचलता का सतुलन। ध्यान की पूरी प्रक्रिया इसी नियम का अनुकरण है। ध्यान से मन की स्थिरता, वाणी की स्थिरता और काया की स्थिरता सधती है।

जो व्यक्ति इस समस्या-संकुल जगत् मे, इस दु खमय जगत् मे सुख चाहता है, समस्या से छुटकारा चाहता है, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अध्यात्म के इस नियम को समझे। एक वैज्ञानिक भी इस नियम को समझता है। एक वैज्ञानिक यदि दु.खमय जीवन जीता है तो दु ख की बात है। एक ओर वह पदार्थविज्ञान की सूक्ष्मतम खोज करता है, सूक्ष्म परमाणु और ऊर्जा की खोज करता है, दूसरी ओर दु ख भी भोगता है। [illegible] है उसकी इन्द्रिया चचल है, मन चचल है, प्रवृत्तिया चंचल है। मन मे [illegible]दन है। इसलिए दु.खी बनने के अनेक प्रसंग उसके सामने उपस्थित [illegible]। वह आत्महत्या की बात भी सोच लेता है। कितना दु खी [illegible] वैज्ञानिक।

अध्यात्म के एक आचार्य ने कहा है—सारे शास्त्रो को [illegible] कष्टो को भोगता है और अध्यात्म को पढने वाला [illegible] करता है।

कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी शास्त्र का [illegible], [illegible] अध्यात्म शास्त्र का अवगाहन नही करता, अध्यात्म [illegible], [illegible] के महासागर मे डुबकियां नही लेता, [illegible]

ये दोनों निरतर साथ रहते है। सुख के क्षण में दुःख का क्षण प
दु ख के क्षण मे सुख का क्षण पलता है । दोनों साथ-साथ पल
अन्तर इतना ही है कि जब चक्का एक बार ऊपर जाता है, आधा
चला जाता है । फिर नीचे वाला उपर आ जाता है और ऊपर
चला जाता है । पर वे अलग कभी नही होते । इस स्थिति से नि
अध्यात्म ने एक नियम दिया । वह नियम है—चंचलता को त
चंचलता है । हमारा शरीर चचल है, वाणी चंचल है, इन्द्रियां
चंचल है, सब कुछ चचल ही चचल । ऐसा क्या है जिसे हम
अध्यात्म ने इस नियम की व्याख्या करते हुए कहा—हमार
चचलता के कारण है । चचलता के परित्याग के साथ सृष्टि
चंचलता मिटते ही अचचलता आ जाएगी । अचचलता का अ
की सृष्टि ।

सबके सामने समस्याएं आती है । इस दुनिया मे जीने
व्यक्ति समस्या से मुक्त नही हो सकता । ध्यान करने वाले के
स्याए आती है और ध्यान न करने वाले के सामने भी स
सियारो की दुनिया मे जीने वाला कोई भी कछुआ सुरक्षित
जब सियार है तो कछुआ कैसे सुरक्षित रहेगा ?

ज्ञातासूत्र का एक प्रसग है। गगा नदी के पास
उसमे से दो कछुए एक साथ बाहर आए और भूमि पर
एक सियार ने उन्हे देख लिया । वह उनको खाने दौडा ।
आते देखा और वे अपने सुरक्षा कवच मे गुप्त हो गए ।

दुनिया में जितने भी प्राणी है, उन सबके पास
साधन है । जहां भय है, हिसा है, आक्रमण है वहां सुर
है ।

सियार आया । दोनों कछुओ को देखा । उसे
गए है । दोनो कछुओ ने पूर्ण गुप्ति कर ली थी, काया
सियार निराश होकर लौट गया । वह दूर जाकर एक
उसकी दृष्टि कछुआ पर लगी हुई थी ।

एक कछुआ पूर्ण गुप्ति किए अपनी ढाल में सुरक्षित
चंचल था । एक बार गुप्ति की । पर कुछ ही क्षणों बाद उस
ढाल से बाहर निकाला और वहां से चलने लगा । सियार ने देख
वह झपटा और कछुए को मार डाला ।

जो अपने आप मे रहता है, उसे बाहर से कोई खतरा नही है ।
उस व्यक्ति को होता है जो अपने से हटकर, बाहर में प्रवृत्त होता है ।

दूसरा कछुआ पूर्णरूप से गुप्ति कर बैठा रहा । सियार उस पर ता

ये दोनों निरंतर साथ रहते हैं। सुख के क्षण में दु.ख का क्षण पलता है और दु:ख के क्षण मे सुख का क्षण पलता है। दोनो साथ-साथ पलते हैं। वस, अन्तर इतना ही है कि जव चक्का एक वार ऊपर जाता है, आधा हिस्सा नीचे चला जाता है। फिर नीचे वाला उपर आ जाता है और ऊपर वाला नीचे चला जाता है। पर वे अलग कभी नही होते। इस स्थिति से निपटने के लिए अध्यात्म ने एक नियम दिया। वह नियम है—चचलता को त्यागो। वहुत चचलता है। हमारा शरीर चंचल है, वाणी चचल है, इन्द्रियां चचल हैं, मन चंचल है, सव कुछ चचल ही चचल। ऐसा क्या है जिसे हम अचचल कहे। अध्यात्म ने इस नियम की व्याख्या करते हुए कहा—हमारी सारी सृष्टि चचलता के कारण है। चचलता के परित्याग के साथ सृष्टि वदल जाएगी। चचलता मिटते ही अचचलता आ जाएगी। अचचलता का अर्थ ही है—सुख की सृष्टि।

सवके सामने समस्याएं आती है। इस दुनिया मे जीने वाला कोई भी व्यक्ति समस्या से मुक्त नही हो सकता। ध्यान करने वाले के सामने भी समस्याएं आती है और ध्यान न करने वाले के सामने भी समस्याएं आती है। सियारो की दुनिया मे जीने वाला कोई भी कछुआ सुरक्षित नही रह सकता। जव सियार है तो कछुआ कैसे सुरक्षित रहेगा ?

ज्ञातासूत्र का एक प्रसग है। गगा नदी के पास एक जलाशय था। उसमे से दो कछुए एक साथ वाहर आए और भूमि पर चंक्रमण करने लगे। एक सियार ने उन्हे देख लिया। वह उनको खाने दौड़ा। कछुओ ने सियार को आते देखा और वे अपने सुरक्षा कवच मे गुप्त हो गए।

दुनिया में जितने भी प्राणी है, उन सवके पास अपनी-अपनी सुरक्षा के साधन है। जहा भय है, हिंसा है, आक्रमण है वहां सुरक्षा के साधन अनिवार्य हैं।

सियार आया। दोनो कछुओ को देखा। उसे प्रतीत हुआ कि वे मर गए है। दोनों कछुओं ने पूर्ण गुप्ति कर ली थी, कायोत्सर्ग कर लिया था। सियार निराश होकर लौट गया। वह दूर जाकर एक झाडी मे छुप गया। उसकी दृष्टि कछुआ पर लगी हुई थी।

एक कछुआ पूर्ण गुप्ति किए अपनी ढाल में सुरक्षित था। दूसरा कछुआ चंचल था। एक वार गुप्ति की। पर कुछ ही क्षणों वाद उसने अपना शरीर ढाल से वाहर निकाला और वहां से चलने लगा। सियार ने देखा। तत्काल वह झपटा और कछुए को मार डाला।

जो अपने आप मे रहता है, उसे वाहर से कोई खतरा नही है। खतरा उस व्यक्ति को होता है जो अपने से हटकर, वाहर मे प्रवृत्त होता है।

दूसरा कछुआ पूर्णरूप से गुप्ति कर वैठा रहा। सियार उस पर ताक

लगाए बैठा था। पर चंचलता स्थिरता को कैसे जीत सकती है। स्थिरता पर चचलता कभी विजय नही पा सकती। चंचलता पर स्थिरता की विजय होती है। सियार निराश होकर लौट गया। कछुआ चला और जलाशय मे सुरक्षित पहुच गया।

जो व्यक्ति चचलता का जीवन जीता है, वह किसी न किसी समस्या को निमंत्रित करता है। चचलता का कोई भी क्षण ऐसा नही है जो समस्या से मुक्त हो।

एक बात और है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के लिए आदमी को चचल होना पडता है। इस स्थिति मे चचलता की बात कैसे कही जाए। यह असभव बात है। संभावना का एक मार्ग है। वह है संतुलन का मार्ग। चचलता और स्थिरता का सतुलन। आदमी जागृत अवस्था मे चचल रहता है तो निद्रावस्था मे भी चंचल रहता है। निद्रावस्था मे भी चंचलता नही मिटती। स्वप्न एक चंचलता है। उससे मुक्त कौन है? इसलिए हमे कुछ क्षण स्थिरता मे बिताने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह सतुलन स्थापित हो सकता है तो हमारा जीवन आध्यात्मिक बन सकता है।

अध्यात्म की दिशा मे प्रस्थान करने का पहला नियम है—चचलता और अचचलता का सतुलन। ध्यान की पूरी प्रक्रिया इसी नियम का अनुकरण है। ध्यान से मन की स्थिरता, वाणी की स्थिरता और काया की स्थिरता सधती है।

जो व्यक्ति इस समस्या-संकुल जगत् मे, इस दुःखमय जगत् मे सुख चाहता है, समस्या से छुटकारा चाहता है, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अध्यात्म के इस नियम को समझे। एक वैज्ञानिक भी इस नियम को समझता है। एक वैज्ञानिक यदि दुःखमय जीवन जीता है तो दुःख की बात है। एक ओर वह पदार्थविज्ञान की सूक्ष्मतम खोज करता है, सूक्ष्म परमाणु और ऊर्जा की खोज करता है, दूसरी ओर दुःख भी भोगता है। इसका कारण है उसकी इन्द्रिया चंचल है, मन चचल है, प्रवृत्तिया चचल है। मन मे संवेदन है। इसलिए दुःखी बनने के अनेक प्रसंग उसके सामने उपस्थित होते है। वह आत्महत्या की बात भी सोच लेता है। कितना दुःखी है [illegible] वैज्ञानिक।

ये दोनो निरंतर साथ रहते है। सुख के क्षण में दु ख का क्षण पलता है और दु:ख के क्षण में सुख का क्षण पलता है । दोनो साथ-साथ पलते है। वस, अन्तर इतना ही है कि जव चक्का एक वार ऊपर जाता है, आधा हिस्सा नीचे चला जाता है। फिर नीचे वाला उपर आ जाता है और ऊपर वाला नीचे चला जाता है। पर वे अलग कभी नही होते। इस स्थिति से निपटने के लिए अध्यात्म ने एक नियम दिया। वह नियम है—चंचलता को त्यागो। वहुत चचलता है। हमारा शरीर चचल है, वाणी चचल है, इन्द्रियां चचल है, मन चचल है, सव कुछ चंचल ही चचल। ऐसा क्या है जिसे हम अचंचल कहे। अध्यात्म ने इस नियम की व्याख्या करते हुए कहा—हमारी सारी सृष्टि चचलता के कारण है। चचलता के परित्याग के साथ सृष्टि वदल जाएगी। चचलता मिटते ही अचचलता आ जाएगी। अचचलता का अर्थ ही है—सुख की सृष्टि।

सबके सामने समस्याएं आती है। इस दुनिया मे जीने वाला कोई भी व्यक्ति समस्या से मुक्त नही हो सकता। ध्यान करने वाले के सामने भी समस्याए आती है और ध्यान न करने वाले के सामने भी समस्याए आती है। सियारो की दुनिया मे जीने वाला कोई भी कछुआ सुरक्षित नही रह सकता। जव सियार है तो कछुआ कैसे सुरक्षित रहेगा ?

ज्ञातासूत्र का एक प्रसग है। गंगा नदी के पास एक जलाशय था। उसमे से दो कछुए एक साथ वाहर आए और भूमि पर चंक्रमण करने लगे। एक सियार ने उन्हे देख लिया। वह उनको खाने दौड़ा। कछुओ ने सियार को आते देखा और वे अपने सुरक्षा कवच मे गुप्त हो गए।

दुनिया मे जितने भी प्राणी है, उन सवके पास अपनी-अपनी सुरक्षा के साधन है। जहा भय है, हिंसा है, आक्रमण है वहां सुरक्षा के साधन अनिवार्य है।

सियार आया। दोनो कछुओ को देखा। उसे प्रतीत हुआ कि वे मर गए है। दोनों कछुओ ने पूर्ण गुप्ति कर ली थी, कायोत्सर्ग कर लिया था। सियार निराश होकर लौट गया। वह दूर जाकर एक झाड़ी मे छुप गया। उसकी दृष्टि कछुआ पर लगी हुई थी।

एक कछुआ पूर्ण गुप्ति किए अपनी ढाल मे सुरक्षित था। दूसरा कछुआ चंचल था। एक वार गुप्ति की। पर कुछ ही क्षणो वाद उसने अपना शरीर ढाल से वाहर निकाला और वहां से चलने लगा। सियार ने देखा। तत्काल वह झपटा और कछुए को मार डाला।

जो अपने आप मे रहता है, उसे वाहर से कोई खतरा नही है। खतरा उस व्यक्ति को होता है जो अपने से हटकर, वाहर में प्रवृत्त होता है।

दूसरा कछुआ पूर्णरूप से गुप्ति कर वैठा रहा। सियार उस पर ताक

लगाए बैठा था। पर चचलता स्थिरता को कैसे जीत सकती है। स्थिरता पर चचलता कभी विजय नही पा सकती। चंचलता पर स्थिरता की विजय होती है। सियार निराश होकर लौट गया। कछुआ चला और जलाशय में सुरक्षित पहुच गया।

जो व्यक्ति चंचलता का जीवन जीता है, वह किसी न किसी समस्या को निमंत्रित करता है। चचलता का कोई भी क्षण ऐसा नही है जो समस्या से मुक्त हो।

एक बात और है। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के लिए आदमी को चंचल होना पड़ता है। इस स्थिति मे चंचलता की बात कैसे कही जाए। यह असंभव बात है। सभावना का एक मार्ग है। वह है सतुलन का मार्ग। चचलता और स्थिरता का संतुलन। आदमी जागृत अवस्था मे चंचल रहता है तो निद्रावस्था मे भी चंचल रहता है। निद्रावस्था मे भी चंचलता नही मिटती। स्वप्न एक चंचलता है। उससे मुक्त कौन है? इसलिए हमे कुछ क्षण स्थिरता मे बिताने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह सतुलन स्थापित हो सकता है तो हमारा जीवन आध्यात्मिक बन सकता है।

अध्यात्म की दिशा मे प्रस्थान करने का पहला नियम है—चंचलता और अचचलता का संतुलन। ध्यान की पूरी प्रक्रिया इसी नियम का अनुकरण है। ध्यान से मन की स्थिरता, वाणी की स्थिरता और काया की स्थिरता सधती है।

जो व्यक्ति इस समस्या-संकुल जगत् मे, इस दुःखमय जगत् मे सुख चाहता है, समस्या से छुटकारा चाहता है, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह अध्यात्म के इस नियम को समझे। एक वैज्ञानिक भी इस नियम को समझता है। एक वैज्ञानिक यदि दुःखमय जीवन जीता है तो दुःख की बात है। एक ओर वह पदार्थविज्ञान की सूक्ष्मतम खोज करता है, सूक्ष्म परमाणु और ऊर्जा की खोज करता है, दूसरी ओर दुःख भी भोगता है। इसका कारण है उसकी इन्द्रिया चंचल है, मन चंचल है, प्रवृत्तिया चचल है। मन में संवेदन है। इसलिए दुःखी बनने के अनेक प्रसंग उसके सामने उपस्थित होते हैं। वह आत्महत्या की बात भी सोच लेता है। कितना दुःखी है आज का वैज्ञानिक!

अनुभव नहीं कर सकता। इस निष्कर्ष पर हम यदि पहुंच जाते है तो फिर हमारी भाषा होगी आज विज्ञान के संदर्भ में अध्यात्म का अध्ययन बहुत जरूरी है।

युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ

जन्म : वि० सं० १९७७, आषाढ़ कृष्णा १३, टमकोर (राज०)।

दीक्षा : वि० सं० १९८७, माघ शुक्ला १०, सरदारशहर (राज०)।

निकाय-सचिव : वि० सं २०२२, माघ शुक्ला ५, हिसार (हरियाणा)।

महाप्रज्ञ उपाधि अलंकरण : वि० सं० २०३५, कार्तिक शुक्ला १३, गंगाशहर (राज०)।

युवाचार्य पद : वि० सं० २०३५, माघ शुक्ला ७, राजलदेसर (राज०)।

अध्यात्म-योग से सम्बन्धित आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं—

मन के जीते जीत (हिन्दी, अंग्रेजी)
किसने कहा मन चंचल है
चेतना का ऊर्ध्वारोहण (हिन्दी, गुजराती)
जैन योग
आभामण्डल (हिन्दी, गुजराती)
एसो पंच णमोक्कारो
अप्पाणं सरणं गच्छामि
महावीर की साधना का रहस्य
एकला चलो रे
मन का कायाकल्प
अनेकान्त है तीसरा नेत्र
सम्बोधि
समाधि की खोज
समाधि की निष्पत्ति
प्रेक्षा ध्यान : आधार और स्वरूप (हिन्दी, अंग्रेजी)
प्रेक्षा ध्यान : श्वास प्रेक्षा (हिन्दी, अंग्रेजी)
प्रेक्षा ध्यान : [illegible]
[illegible]
जीवन विज्ञान (शिक्षा का नया आयाम)
अवचेतन मन से सम्पर्क
[illegible]
आदि।